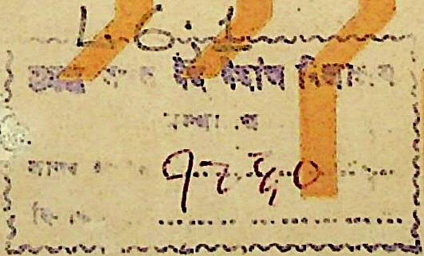


14.8.89

काव्य मञ्जरी



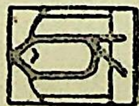
सम्पादन

डॉ० केशव प्रसाद सिंह

डॉ० त्रिभुवन सिंह

हिन्दी प्रचारक संस्थान

लखनऊ • वाराणसी • कलकत्ता





काव्य-मञ्जरी

Selected By

Dr. KESHAVA PRASAD SINGH

Dr. TRIBHUWAN SINGH

KAVYA MANJARI

प्रकाशक

हिन्दी प्रचारक संस्थान

पो० बॉ० नं० १०६ पिशाचमोचन

वाराणसी–२२१००१

मूल्य ४·००

संस्करण १९७६

मुद्रक

महाराष्ट्र प्रेस

एस० २३/१४०, ढेलवरिया

चौकाघाट, वाराणसी-कैण्ट

विषय-सूची

१. कबीर	१–५
साखी	१
पद	२
रमैनी	४
२. जायसी	६–१४
मानसरोदक खण्ड	६
नागमती विरह	८
३. सूर	१५–२३
४. रसखानि	२४–२५
५. तुलसी	२६–४२
चित्रकूट-प्रसंग	२६
गीतावली	३७
कवितावली	३९
विनय-पत्रिका	४१
६. केशव	४३–५३
वन्दना	४३
वन-यात्रा	४४
पंचवटी-वन-वर्णन	४७
रावण-अंगद-संवाद	४८
७. बिहारी	५४–५७
८. भूषण	५८–६०
९. देव	६१–६४
१०. घनआनंद	६५–६८

रस-कण

११. मतिराम	७१
१२. सेनापति	७२–७३
१३. बोधा	७४
१४. आलम	७५–७६
१५. ठाकुर	७७
१६. द्विजदेव	७८–७९
१७. पद्माकर	८०

दो शब्द

'काव्य मञ्जरी' हिन्दी के मध्यकालीन प्रमुख कवियों की प्रतिनिधि कविताओं का संग्रह है जो स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर तैयार किया गया है। कवियों एवं उनकी कविताओं का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया गया है कि सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी काव्य चेतना का प्रतिनिधित्व हो जाय। कवियों एवं उनकी रचनाओं को इस संग्रह में जिस क्रम से प्रस्तुत किया गया है, उससे हिन्दी काव्य-धारा के ऐतिहासिक विकास क्रम का भी निर्वाह हो गया है।

आरम्भ में भूमिका के रूप में हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त परिचय छात्रों की सुविधा के लिए दे दिया गया है, जिससे वे संग्रह में संकलित कविताओं से सहज ही परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

हिन्दी कविता का विकास

आज जिस विशाल क्षेत्र की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी के नाम से अभिहित करते हैं उसे विकास के एक लम्बे दौर से गुरजना पड़ा है। हिन्दी शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों में होता है। हिन्दी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की भाषा है। इसका प्रसार राजस्थान और पंजाब की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमांत तक तथा उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा से लेकर मध्य प्रदेश के मध्य तक है। इस विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को आज हिन्दी के नाम से जाना जाता है। हिन्दी के नाम पर जितना साहित्य उपलब्ध है यद्यपि सबका भाषा-शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा नहीं है क्योंकि इतने विशाल क्षेत्र में अनेकता के अनेक कारण वर्तमान हैं, फिर भी अनेकता में एकता की स्थापना करने वाले साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा को विद्वानों ने हिन्दी की संज्ञा दी है।

हिन्दी साहित्य के सभी इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश को हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषा के रूप में स्वीकार किया है। निश्चय ही हिन्दी का आविर्भाव अपभ्रंश से हुआ है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव हुआ। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहना अधिक उपयुक्त समझा है। राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की ही रचना माना है। इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं ने अपनी पुस्तक में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश भाषा-साहित्य को हिन्दी साहित्य का पूर्वरूप माना है।

काल विभाजन

सामान्यतः होता यह है कि भाषा का आविर्भाव पहले होता है और साहित्य का बाद में। किसी भी साहित्य का प्रारम्भ तब से मानना चाहिए जब से उस भाषा में लिखित साहित्य उस भाषा-प्रदेश के निवासियों की सामूहिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने लग जाय। समाज से अलग साहित्य की कल्पना नहीं की जा

सकती और साहित्य के अभाव में समाज का सांस्कृतिक जीवन निष्प्राण होता है। समाज में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उनमें सामान्य धरातल की सम्भावनाएँ भी कम रहती हैं। साहित्य प्रवृत्तिविशेष या समष्टि प्रवृत्तियों को अपने में समावेष्टित करता हुआ युग दर्पण का काम किया करता है। साहित्य में इन्हीं प्रवृत्तियों में से एक का किसी एक युग में अधिक जोर रहता है और कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती हैं जो सामान्य रूप से प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष आवरण में साहित्य का दामन हर युग में पकड़े रहती हैं। प्रवृत्तियों के आधार पर जब साहित्य-काल का विभाजन होता है तब प्रधान या युग की सर्वसामान्य प्रवृत्ति को ही आधार माना जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—"वस्तुतः काल-प्रवृत्ति का निर्णय उस काल की मुख्य प्राणदायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है और वही नामकरण की भी उपयुक्त भित्ति है।" आचार्य शुक्ल जी ने काल-विभाजन के दो आधारों को माना है; उनमें प्रथम है—विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता का आधार और दूसरा है—ग्रन्थों की प्रसिद्धि, जिसमें किसी लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि विद्यमान रहती है। हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करते समय उसे आदि काल, मध्य काल और आधुनिक काल में विभक्त किया गया है। इनमें से आदिकाल का नामकरण अधिक विवादास्पद रहा है जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने वीर गाथा काल, डा० रामकुमार वर्मा ने चारण काल, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल तथा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त युग के नाम से अभिहित किया है। मध्य काल को दो भागों में विभक्त किया गया है—पूर्वमध्य-काल या भक्ति काल तथा उत्तरमध्य काल या रीति काल अथवा शृङ्गार काल। इसी प्रकार आधुनिक काल को हिन्दी गद्य काल, भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल और वर्तमान काल में बाँटा जा सकता है।

आदि काल—(सन् १००० से १४०० तक)

इस काल का प्रारम्भ अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के मिलन विन्दु से होता है। स्पष्ट है कि इस युग में अपभ्रंश साहित्य की परम्पराओं की स्पष्ट छाप है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह संक्रमण का युग था। देश के छोटे-मोटे नरेश और उनके सामन्तों का चरमराता प्रशासनिक ढाँचा ढह चुका था। इस युग में सामन्ती अन्तर्कलह का आधार अधिकतर रूपवती कन्याएँ ही हुआ करती थीं। जिनको प्राप्त करने की होड़ में अपनी प्रतिष्ठा को गर्दन पर रखकर राजे-रजवाड़े आपस में युद्ध का शंखनाद फूँका करते थे। इस प्रकार की परिस्थिति में राज दरबार में पलने-वाले कवि, चारण या भाट किसी रूपसी के सौंदर्य का वर्णन कर अपने आश्रयदाता के शौर्य को प्रेरित करते हुए युद्ध की भूमिका का निर्माण करते थे।

अपने आश्रय-दाता के शौर्य एवं सौन्दर्य का वर्णन करना ही इस काल के कवियों का युगधर्म हो गया था। वे वीरता का वर्णन अतिशयोक्तियों और अतिरंजनाओं के माध्यम से करते थे किन्तु इन वीररस पूर्ण काव्यों में शृङ्गार की धारा भी आद्यन्त प्रवाहित होती रही। इस काल में जितने भी वीर-काव्य लिखे गये उनमें वर्णित युद्धों के मूल में रूपवती कन्या की प्राप्ति रही है। अतः उनमें शृङ्गार-भावना का विद्यमान होना स्वाभाविक ही है।

इस युग के कवियों की एक विशेषता यह भी थी कि वे अपने आश्रयदाता के प्रति निष्ठावान होते थे। युद्ध या शृङ्गार में भी अपने आश्रयदाता का साथ नहीं छोड़ते थे। अपने आश्रयदाता के साथ शौर्य प्रदर्शन के लिए युद्धस्थल पर जाते थे और शृङ्गार या प्रेमक्रीड़ा के समय अपने आश्रयदाता के विश्वासपात्र एवं अनुचर होते थे। इस प्रकार इस युग के चारण कवि एक ओर तो युद्धों में भाग लेते थे और दूसरी ओर अपनी सशक्त लेखनी से शृङ्गार से पूर्ण वीरतापरक काव्यों की सृष्टि करते थे। यही कारण है कि इनके काव्य में सामान्य जन-जीवन के प्रति घोर उपेक्षा परिलक्षित होती है। इनके काव्य का वर्ण्य विषय सामन्तों एवं राजाओं के जीवन तक ही सीमित रहा। इस युग के काव्य में वीर और शृङ्गार के अतिरिक्त यदा-कदा करुण, भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों का भी परिपाक हुआ है। इस युग के प्रमुख कवि हैं—नरपति नाल्ह, नल्हसिंह, चन्दवरदाई, विद्यापति, जगनिक आदि।

पूर्व मध्यकाल (सन् १४०० से १६५० तक)

भारतीय इतिहास का यह वह युग था जहाँ पहुँचकर भारतीय पौरुष कुण्ठित हो गया था और उसने अपनी दुर्बलता के कारण विवश हो आक्रमणकारी मुसलमान शासकों को देश में बस जाने दिया और विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के समाप्त होते ही भारत के केन्द्रीय शासन में मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य हो गया था। देश के हिन्दू राजा विलासिता के पंक में आकण्ठ निमग्न थे और थोथे अहंकार के नशे में अपने गौरव को भूलने लगे थे। परस्पर की लड़ाइयाँ और वाह्य आक्रमणों की मार से देश जर्जर हो गया था जिससे रक्षा कर पाने मे हिन्दू राजा पूर्ण रूप से असमर्थ थे। आपसी युद्धों और वाह्य आक्रमणों के कारण छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया था।

मुस्लिम आक्रमण के कारण हिन्दू समाज में अव्यवस्था आ गयी। मुस्लिम शासक हिन्दुओं पर असह्य अत्याचार करने लगे। तत्कालीन भोग-विलास में लिप्त सामन्त एवं राजा इस अत्याचार का अवरोध करने में समर्थ न हो सके। फलस्वरूप हिन्दू समाज एक ओर मुसलमानों के अत्याचार और दूसरी ओर हिन्दू सामन्तों एवं राजाओं की विलासमयी प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त उत्पीड़ित हुआ। समाज की विविध प्रकार की कुरूपताओं—अन्धविश्वास, निर्धनता, उत्पीड़न, शोषण, निराशा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, दरिद्रता आदि के कारण सामान्य जनता अन्धकार के गर्त

में डूब रही थी। उसके सामने मुस्लिम धर्म स्वीकार करने की बहुत बड़ी विवशता उठ खडी हुई।

इस धार्मिक संकट से युक्त परिस्थिति में सिद्धों, नाथों और कापालिकों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया जिन्होंने भोली-भाली जनता को अपने चमत्कारयुक्त मायावी आचरण से अपनी तरफ आकृष्ट किया। मन्त्र-तन्त्र का खूब प्रचार हुआ। ऐसी विकट परिस्थिति में सनातन धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान होने लगा। इन लोगों ने समाज में धर्म के नाम पर पाखण्ड, आडम्बर, मिथ्याचार तथा भ्रष्टाचार का प्रचलन खूब किया। देश के पूर्वी क्षेत्रों में सहजयानी-नाथपन्थी साधकों की रचनाओं का प्रचुर भण्डार प्राप्त होता है और पश्चिमी प्रदेश में नीति, शृङ्गार और कथात्मक साहित्य की उपलब्धि होती है। पहले प्रकार की रचनाओं में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का वर्णन है तथा दूसरे प्रकार की रचनाओं मे नियम, निष्ठा, रूढ़ि पालन और स्पष्टवादिता का स्वर है। कालान्तर में दोनों के मिश्रण से एक ऐसे साहित्य का स्वर प्रस्फुटित हुआ जिसने भावी भक्ति-आन्दोलन की भूमिका तैयार की। श्रुतिसम्मत धर्म का प्रचार रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के माध्यम से होने लगा। इस युग में अवतारों को विशेष महत्व प्रदान किया गया। विविध सम्प्रदायों एवं धार्मिक भावनाओं के संगम का प्रभाव भक्ति आन्दोलन पर पड़ा। फलतः इस काल के भक्ति-साहित्य में सगुण और निर्गुण दो प्रकार की उपासना-पद्धतियों का निरूपण हुआ। अवतार की महती कल्पना ने भक्ति-आन्दोलन में आस्था रखनेवाले कवियों को ऐसी भूमि प्रदान की कि उन्होंने ईश्वर के ऐसे प्रेममय रूप को मानव सुलभ विशेषताओं के साथ सामने रखा कि हिन्दू और मुसलमान का भेदभाव ही मिट गया। निराकार ब्रह्म की उपासना ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समीप लाने का सराहनीय कार्य किया। इन भक्तों ने भेद-भाव, छुआ-छूत, हिंसा और पाखण्ड का घोर विरोध किया।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ दक्षिण के आलवार भक्तों के माध्यम से हुआ जिनकी परम्परा में आचार्य रामानुज का जन्म हुआ। आचार्य रामानुज ने नीच जातियों में प्रचलित ऐकान्तिक भक्ति धर्म को अपना संरक्षण प्रदान किया, साथ ही साथ देशी भाषा में शठकोप प्रभृति के 'तिरुवेल्लुअर' शास्त्रों को वैष्णवों के वेद का सम्मान दिया। उत्तर भारत में रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द ने ईसा की १५ वीं शताब्दी में विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। इन्होंने दोनों श्रेणी के भक्तों को अपनाया—एक तो वे जो निर्गुण या निराकार राम की उपासना करते थे, दूसरे वे जो राम की उपासना अवतार रूप में करते थे। इसी के समानान्तर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति का प्रचार उनके लीलापक्ष पर जोर देते हुए किया तथा पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन किया।

निर्गुण काव्यधारा

निर्गुण भक्ति के विकास के मूल में अवतारवाद की उपेक्षा थी। अवतारों के रूप में जो भी कल्पना परम्परा से प्राप्त थी उससे उच्च कही जानेवाली जातियों का ही गौरववर्धन होता था। इस भावधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने अपना प्रसार ऐसी जनता में किया जो निम्न श्रेणी की समझी जाती थी और जिसे शास्त्र-सम्मत धर्म में भागी बनने का अधिकार नहीं मिला था। इस प्रकार निर्गुण भक्ति-प्रवर्तकों ने उपेक्षित और अवमानित जनता में आत्मगौरव का भाव जगाकर तत्कालीन भक्ति आन्दोलन को पूर्णता प्रदान की। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"यह सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगम्बरी खुदा की ओर। इस भक्ति का विकास काव्य के क्षेत्र में दो धाराओं के माध्यम से हुआ। जिन लोगों ने ज्ञान को सर्वोपरि महत्व प्रदान कर ज्ञानमार्ग का अनुसरण किया वे ज्ञान-मार्गी कहलाये और लौकिक प्रेमगाथाओं के माध्यम से ईश्वरपरक प्रेम की झाँकी प्रस्तुत करने वाले प्रेममार्गी कहलाये जिनमें सूफियों के काव्य भी सम्मिलित हैं।"

सगुण भक्ति के प्रवर्तक रूप में रामानन्द का नाम प्रमुख है। इनके बारह शिष्यों की चर्चा नाभादास के भक्तमाल में है। ये बारह शिष्य हैं—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, कबीर, सेना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी। इन सभी सन्त कवियों ने हिन्दी में प्रचुर रचनाएँ कीं। इन सन्तों द्वारा उपदेश के प्रति अधिक आग्रह दिखलाया गया। फलस्वरूप इनकी रचनाएँ केवल प्रचारात्मक बनकर रह गयीं। साहित्य एवं कला के क्षेत्र में उन्हें विशेष स्थायित्व नहीं प्राप्त हो सका। सभी कवियों ने एकेश्वरवाद, निर्गुण-निराकार ईश्वर की उपासना और हठयोग के माध्यम से साधना की सिद्धि पर बल दिया। जात-पाँत परम्परा, धार्मिक आडम्बर तथा अवतारवाद पर इन्होंने बड़ा करारा प्रहार किया। शिक्षा के अभाव तथा एक ही विषय के पिष्ट-पेषण के कारण इनके काव्य में कला-पक्ष अधिक सुन्दर नहीं बन पड़ा है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों में कुछ तो मुसलमान थे और कुछ निम्नश्रेणी के हिन्दू। दोनों ही हिन्दू परम्पराओं के शत्रु थे। फलस्वरूप हिन्दू समाज की धार्मिक मान्यताओं के प्रति प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। इनकी रचनाओं का मूल उद्देश्य साहित्य की रचना करना नहीं था, बल्कि उपदेश देना था और इस प्रकार वे अपढ़ जनता को प्रभावित करने में सफल हुए। सन्त कवियों ने जनता की भाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, इनमें सभी प्रान्तों की भाषाओं का सम्मिश्रण है। इनके द्वारा अधिकांश रचनाएँ साखी, सबदी, झूलना तथा कवित्त-सवैया में हुईं। शृङ्गार, शान्त, बीभत्स और अद्भुत रस इन सन्तों में अधिक लोक-प्रिय रहे। रहस्यवाद का परिवेश प्रदान कर निर्गुण ब्रह्म की प्रेम-सम्बन्धी भावनाओं

को प्रस्तुत किया। इस धारा के कवियों में कबीर का स्थान प्रमुख है। रैदास, दादू, सुन्दरदास आदि कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

कबीर—निर्गुण भावधारा के प्रवर्तकों में कबीर का नाम प्रमुख है। प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से कबीर ने दीक्षा ली थी और स्वामी रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया था। इनका काव्य समन्वयवादी काव्य था। कबीर की विचारधारा, साधना-पद्धति एवं साहित्य शैली के निर्माण मे सिद्धों, नाथपंथी योगियों, महाराष्ट्रीय सन्तों एवं वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव ने पर्याप्त योग दिया। बौद्ध-सिद्ध और नाथपंथी योगियों की भांति कबीर में उच्चवर्गीय संस्कृत के प्रति विद्रोह की भावना, गुरु के महत्व में आस्था और पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता पर विश्वास था।

काव्य-रचना कबीर के जीवन का मूल उद्देश्य नहीं था। उन्होंने अपने विचारों को जिन पदों या बानियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया उनका संग्रह बीजक नाम से प्रसिद्ध है जिसके रमैनी', 'शब्द', और 'साखी' तीन भाग हैं। इनकी सभी रचनाएं मुक्तक शैली मे हैं। रूपकों एवं अन्योक्तियों का प्रयोग इनकी कविता में मिलता है। कबीरदास यद्यपि शिक्षित नहीं थे किन्तु फिर भी अनुभूति के वेग के कारण अलंकारों का समावेश स्वयं ही हो गया है। 'शब्द' में अधिकतर पद गेय हैं और 'साखी' में इनकी शिक्षा, सिद्धान्त और उपदेश प्राप्त होते हैं तथा रमैनी में चौपाइयां हैं।

कबीर की भाषा में भावों को व्यक्त करने की असाधारण शक्ति है। काव्य-शास्त्र और व्याकरण का अभ्यास किये बिना ही उन्होंने भाषा पर अद्भुत अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनके विभिन्न शिष्यों के प्रान्त-भेद के कारण उनकी वाणी के विभिन्न रूप मिलते हैं। उनमे भाषा की एकरूपता परिलक्षित नहीं होती। यही कारण है कि उनकी भाषा को कुछ लोगों ने सधुक्कड़ी कहा तथा कुछ ने पंचमेल खिचड़ी की संज्ञा दी। सच तो यह है कि कबीर ने कभी भी भाषा के बन्धन को स्वीकार नहीं किया। इसलिये पूरबी बोली, अवधी, भोजपुरी, पंजाबी और राजस्थानी सभी भाषाओं के शब्दों का उन्मुक्त प्रयोग उनके काव्य में दर्शनीय है। भाषा को कबीर ने अभिव्यक्ति का साधन बनाया, वह उनके लिए साध्य न बन सकी।

कबीर क्रान्तिकारी युग पुरुष थे। राजनीति, धर्म और समाज की इन विकृत परिस्थितियों ने कबीर को विद्रोह के लिए प्रेरणा दी। यही कारण है कि उन्होंने अपने युग की प्रायः सभी परम्परागत राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को सन्देह की दृष्टि से देखते हुए उनकी तीव्र आलोचना की। कबीर के जीवन का लक्ष्य धर्म और भक्ति था। भाषा और छन्द-शैली की दृष्टि से उनका महत्व भले ही न हो पर, भाव की दृष्टि से कबीर का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रेमाश्रयी शाखा

प्रेमाश्रयी शाखा के सूफी कवियों ने ज्ञानाश्रयी शाखा के निर्गुण कवियों की तरह ज्ञान की महत्ता पर बल न देकर हृदय के भावपक्ष पर जोर दिया। सरल और सपाट भाषा के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम का निरूपण ही इन कवियों का मुख्य लक्ष्य था और इसके लिए सूफी कवियों ने प्रबन्ध काव्य का सहारा लिया और अपने प्रबन्ध-काव्य के लिए तत्कालीन समाज में प्रचलित लौकिक प्रेम-कहानियों को चुना।

सूफी कवियों के प्रबन्ध काव्यों का गठन चरित्र काव्यों को सर्गबद्ध शैली पर नहीं हुआ है। इन्होंने फारसी की मसनवी शैली अपनायी है। इनकी भाषा पूरबी अवधी है। इनके काव्य की कथायें प्रायः हिन्दू जीवन से सम्बन्ध रखती है। इन कथाओं के माध्यम से इन्होंने सूफी रहस्यवाद का प्रवर्तन किया। इस धारा के प्रमुख कवियों में अधिक मुसलमान सन्त ही थे। इनकी रचनाओं में स्थापित दर्शन पर हिन्दू वेदान्त दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का नाम उल्लेखनीय है।

मलिक मुहम्मद जायसी

जायसी हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, यद्यपि उनके ग्रन्थों की संख्या अधिक बताई जाती है किन्तु अभी तक 'पद्मावत', 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'कहरानामा', 'मसलानामा' और 'चित्ररेखा' नामक छः कृतियाँ ही प्रकाशित हैं पर उनमें सबसे प्रमुख 'पद्मावत' है। यह शृङ्गार रस प्रधान काव्य है। इसकी कथा दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन तथा चित्तौड़ की रानी पद्मिनी को लेकर लिखी गयी है। इसका नायक रत्नसेन है। इस काव्य में शृंगार रस के सभी अवयवों एवं अनेक दशाओं का क्रमिक वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें इतिहास, कल्पना तथा सूफी सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय हुआ है। अलौकिक प्रेम व्यंजना को सफल अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए इस काव्य में रूपक का असफल निर्वाह हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काव्य को प्रेमगाथा की प्रौढ़ रचना स्वीकार किया है।

जायसी में सर्जनात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उन्होंने 'पद्मावत' में तत्कालीन प्रचलित कथानक रूढ़ियों का प्रयोग यत्र-तत्र किया है। इसके पूर्वार्ध में तो प्रेममार्ग का संकेत है और उत्तरार्ध में लोकपक्ष को स्थान मिला है।

महाकाव्यत्व की कसौटी पर 'पद्मावत' खरा नहीं उतरता है। इसमें कतिपय दोष हैं। यद्यपि कुछ स्थल अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़े हैं किन्तु यह जीवन की समग्रता को ग्रहण करने वाला काव्य नहीं है। मानव जीवन में आने वाले सभी भावों के चित्रण का इसमें अभाव है। नख-शिख वर्णन, शृंगार और रीति की अवतारणा, वीर और शृंगार का सुन्दर समन्वय, मिलन का आत्म-समर्पण और विरह की दग्धदाहक ज्वाला इस काव्य के मनोरम आकर्षण हैं। विरह-वर्णन में जायसी

ने बड़ी तन्मयता दिखाई है और यहीं लोक जीवन के प्रति उनका अनुराग परिलक्षित होता है। वियोग की दशों दशाओं में नागमती की 'उन्मादावस्था' का जो चित्र जायसी ने खींचा है वह बड़ा ही हृदय-विदारक है। उनकी विरह-पीड़ा से पशु-पक्षियों में भी वेदना की तीव्र पीड़ा जाग्रत कर दी है।

जायसी रहस्यवादी कवि हैं। उनका रहस्यवाद भावात्मक था। रूप सौंदर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना जायसी की अपनी विशेषता है। नायिका के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को इतना व्यापक रूप प्रदान किया गया है कि उसमें किसी विकार के रूप का आभास होने लगता है। अप्रस्तुत की ओर संकेत करने वाले प्रसंगों की उद्भावना जायसी ने बड़ी कुशलता के साथ की है। वस्तुतः इस काव्य में प्रेम को आदर्श और यथार्थ—दोनों गुणों से समन्वित करते हुए जायसी ने उसे पूर्ण उत्कर्ष तक पहुँचा दिया है।

इनकी भाषा बोल-चाल की अवधी भाषा है। अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिल जाता है।

सगुण धारा

कृष्ण भक्ति-साहित्य—उत्तर भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन का आरम्भिक श्रेय निम्बार्काचार्य को है किन्तु निम्बार्क से प्रेरित इस भक्ति-आन्दोलन को वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु से ही ऐसी शक्ति और गति प्राप्त हुई कि जिससे कृष्ण भक्ति-आन्दोलन सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गया। वल्लभाचार्य के प्रभाव से कृष्णभक्ति की सरस धारा को छूकर बहने वाली हवा के शीतल झोकों ने ज्ञानियों के नीरस मन को भी सरसता की लहरों में आह्लादित कर दिया। वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैतवाद तथा इसके भक्ति-मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा जाता है। माया को शुद्धाद्वैतवाद में ब्रह्म की इच्छा शक्ति माना गया है जो कि सृष्टि की रचना और उसका विस्तार करती है। जगत् के प्राणी अवश्य इस शक्ति के बन्धन में बंधे हुए हैं, किन्तु स्वयं ब्रह्म इसमें लिप्त नहीं होता। यही मायारहित स्वतन्त्र ब्रह्म इस विश्व में कार्य तथा कारण रूप से सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। यह सृष्टि ईश्वर-लीला का विकास है। वल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति की जिस पद्धति को अपनाया गया वह 'पुष्टि मार्ग' कही जाती है। भागवत में 'पोषणं तदनुग्रहः' का उल्लेख एक स्थान पर हुआ है, इसी के आधार पर 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य है 'ईश्वर का अनुग्रह'। उनका यह अनुग्रह भी उनकी एक लीला मात्र है। पुष्टि का प्रमुख साधन है—भक्ति-प्राप्ति। पुष्टि मार्ग वही है जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयों को त्यागकर देह, वासना, कामना आदि समस्त पदार्थों को कृष्णार्पण कर देता है।

वल्लभाचार्य जी ने निर्गुण ईश्वर के बदले कृष्ण के सुबोध, सरल और सगुण

लीलावपु की व्याख्या की जिसमें प्रेमा-भक्ति की स्थापना हुई। सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रजभाषा को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया। कृष्ण-भक्ति काव्य में काव्य और संगीत का अद्भुत समन्वय हुआ है। संगीत की राग-रागिनियों का प्रयोग भी प्राय: सभी कवियों ने किया है।

वल्लभाचार्य के पुत्र विठ्ठलनाथ जी ने वल्लभ सम्प्रदाय को संगठित करके अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप के कवि हैं—कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। अष्टछाप की प्रेरणा से समस्त भारतीय जीवन कृष्ण भक्ति के रंग में रँग गया। भक्ति-भावना और रचना सौन्दर्य की दृष्टि से इन सभी अष्टछाप के कवियों में सूरदास भक्ति-मणिमाला के सुमेरु हैं।

सूरदास—सूरदास द्वारा रचित अब तक तीन ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं—'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी', किन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से 'सूरसागर' ही इनका एक मात्र निर्विवाद ग्रंथ माना गया है। सवा लाख पदों वाले इस ग्रंथ के अभी तक ५-६ हजार पद ही उपलब्ध हैं।

सूरदास को काव्य और भक्ति दोनों ही क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता मिली है। यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि काव्य पक्ष अधिक सबल है या भक्ति पक्ष। भक्ति, काव्य और संगीत का समन्वित स्वरूप सूर साहित्य में उपलब्ध है। भक्ति के वात्सल्य एवं दाम्पत्य भावना का चरमोत्कर्ष सूर-साहित्य में प्राप्त होता है। कवि के रूप में सूर की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी मौलिकता और स्वच्छन्दता।

पुष्टिमार्ग के प्रारम्भ में बाल-कृष्ण की उपासना का प्रचार था। फलत: सूरदास ने श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन का चित्रण विभिन्न रूपों में किया है। उन्होंने कृष्ण के रूप में बालक की विभिन्न चेष्टाओं व क्रियाओं का चित्रण तथा उनकी उक्तियों की व्यंजना की है। सूरदास ने बालक की अन्त:प्रकृति का अनावरण बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ किया है। इनका बाललीला वर्णन इतना मनोहारी और सरस है कि पुनरावृत्ति होते हुए भी भाव की अखण्डता में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। सूरदास जी ने माता यशोदा के माध्यम से मातृ-हृदय की आकांक्षाओं आदि का उद्घाटन भी बड़े ही स्वाभाविक ढंग से सफलतापूर्वक किया है।

शृङ्गार—वर्णन में सूरदास जी ने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को बड़ी तन्मयता के साथ चित्रित किया है। राधाकृष्ण की संयोग लीला में परिवेश, प्रकृति और परिस्थिति का सहयोग है। संयोग में सूरदास जी राधा-कृष्ण की रास-लीलाओं का अवलोकन कर स्वयं आत्मविभोर हैं, लेकिन वियोग में उनकी जाग्रत चेतना का प्रसार विश्वव्यापी हो गया है। वियोगिनी राधा का जो चित्र सूर ने विचित्र किया है उसमें सम्पूर्ण विरहिणियों का विरह ही घनीभूत होकर मूर्त हो गया है।

सूरदास के काव्य में कलापक्ष भी अपने चरमोत्कर्ष पर है। उपमा, उत्प्रेक्षा,

रूपक, अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है जो अत्यन्त ही स्वाभाविक रूप से स्वतः ही आ गये हैं, उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। अलंकारों के माध्यम से काव्य में महत्त्व ही निखार आ गया है जैसा ब्रजभाषा के अन्य किसी कवि में नहीं है। भ्रमरगीत में वक्रोक्ति का पुट है। सूरदास में विधायक कल्पना का विकास नवीन प्रसंगों की सहज उद्भावना में हुआ है। सूरदास जैसे प्रतिभाशाली कवि के हाथ में पड़कर ब्रजभाषा चमक उठी, उसका शब्द भाण्डार तत्सम एवं तद्भव शब्दों द्वारा भर गया, मुहाविरों के प्रयोग से उसमें व्यंजकता और प्रवाहशीलता के गुण आ गए। इन्हीं गुणों के कारण सूरदास के गीत हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "काव्य-गुणों की विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं, जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है बल्कि उस अकृत्रिम वनभूमि की भांति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल मिल गया है।"

रसखानि—रसखानि की कविता का मुख्य विषय कृष्णविषयक रति है। श्रीकृष्ण के लीलामय ललित रूप के आकर्षण में धर्म सम्प्रदाय और विश्वास के कृत्रिम बन्धन समाप्त हो गये थे, जिसके फलस्वरूप मुस्लिम सहृदय भी कृष्ण-भक्ति में लीन हुए। इनमें सुजान रसखानि कवि सबसे प्रमुख हैं। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'प्रेम वाटिका' सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'प्रेमवाटिका' में भक्तियोग के रहस्य-पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा गोपी भाव की प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता का प्रदर्शन सरल दोहों में करना रसखानि की विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। इनकी दूसरी रचना 'सुजान-रसखान' में कवित्त और सवैया हैं। रसखान ने प्रेम के उस त्यागमय और कामना-रहित रूप का वर्णन किया है जिसमें आश्रय और आलम्बन का तादात्म्य हो जाता है। रसखानि के सवैये अत्यन्त ही श्रुतिमधुर और भाव भरे हैं। रसखानि की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। फारसी के विद्वान् होने के कारण कहीं-कहीं अरबी, फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन वे भी उसी में घुल मिल गए हैं। निश्चय ही रसखानि रससिद्ध और भाषासिद्ध कवि हैं।

राम-भक्ति साहित्य

देश में अनेक विशृंखलताएँ उत्पन्न हो गयी थीं। राजनीतिक दृष्टि से विदेशी जाति ने भारतीय जनता को पूर्णतः अपने शासन के पंजे में जकड़ लिया था। धर्म की दृष्टि से परम्परागत हिन्दू धर्म इस्लाम के झंडे के आगे नत-मस्तक-सा हो रहा था। अस्थिरता के इस वातावरण के बीच से स्थायित्व का कोई न कोई मार्ग निकालने के लिए लोकमत का आग्रह बराबर बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में लोकमंगलकारी भावनाओं के प्रति समर्पित भाव से आस्थावान होने की प्रक्रिया का सूत्रपात जिस आदर्श से सम्भव था वह था, राम का आदर्श जीवन। स्वामी रामानंद ने भक्ति धारा में 'राम' नाम का जो बीज मंत्र दिया, उसका महत्व सगुण-निर्गुण

दोनों उपासकों ने स्वीकार किया, किन्तु दोनों ने दो विभिन्न अर्थों में। कबीर ने कहा—"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।" उधर तुलसीदास ने 'राम' का दूसरा पक्ष स्वीकार किया :—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥

सगुणोपासक रामभक्त कवि राम को ईश्वर का अवतार मानकर एक ऐसे आदर्श मानव की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे जो हिन्दू जनमानस के आसन्न संकटमय जीवन में प्रकाश की किरण दिखा सके। निर्गुण भक्ति धारा के संतों में लोक-मंगल की भावना का अभाव था। वे व्यक्तिगत मोक्ष की बातें करते थे। ऐसी स्थिति में स्वामी रामानन्द जी द्वारा प्रवर्तित सगुण भक्तिधारा अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हो रही थी।

सगुण भक्ति धारा में राम जगत के कल्याणार्थ अवतरित होते हैं। वे दशरथ के पुत्र हैं और सभी मानवोचित आदर्श गुणों से सम्पन्न हैं। राम के रूप में एक ऐसे आदर्श की स्थापना की गयी है जो दुष्टों के लिए घातक और भक्तों के रक्षक हैं। लोक-मंगल को दृष्टि में रखकर वैयक्तिक सुखों की बलि दे देने को सदा ही प्रस्तुत हैं। विशिष्टाद्वैत की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में सिर्फ सगुण भक्तों की रचनाओं में यह स्थापना की गई कि जगत् के सभी प्राणी ब्रह्म के ही अंश हैं जो उस से उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं। उपासना के लिए इन भक्तों ने लौकिक बन्धनों को अस्वीकृत कर दिया। विष्णु के अवतार राम इनके इष्टदेव हुए और राम नाम इनका मूल मंत्र था। राम-भक्ति का प्रचार स्वामी रामानन्द और उनकी लम्बी शिष्य-परम्परा द्वारा तो हो ही रहा था, किन्तु उसका पूर्ण विकास गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के माध्यम से हुआ।

गोस्वामी तुलसीदास—तुलसीदास का आविर्भाव हिन्दी जगत् के लिए ईश्वरीय वरदान सिद्ध हुआ। उनकी रचनाएँ हैं—'रामचरित मानस', 'रामलला नहछू' 'वैराग्य संदीपनी', 'बरवै रामायण', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', 'रामाज्ञा प्रश्न', 'दोहावली', 'कवितावली', 'गीतावली', 'श्रीकृष्ण गीतावली' और 'विनय-पत्रिका'। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आदर्शों की स्थापना के लिए तुलसी को विभिन्न विरोधी रूपों में समन्वय स्थापित करना पड़ा। उनकी सर्वतोन्मुखी सारग्राहिणी प्रतिभा तथा काव्यात्मक सृजन की अद्भुत चेतना से हिन्दी जगत् गौरवान्वित हो उठा। अपने वैयक्तिक जीवन से निराश, संत्रस्त, ठुकराये गये, तिरस्कृत और अपमानित तुलसीदास ने हमें जो साहित्य दिया उसमें अपूर्व आशा, विश्वास, आत्मबल और आदर्श की परिकल्पना है। जिस समय गोस्वामी जी ने हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय हिन्दी में वीरगाथाओं की छप्पय शैली, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया-पद्धति, सूफी कवियों

की दोहा-चौपाई-पद्धति और नीति कवियों की केवल दोहा-पद्धति आदि सभी रचना पद्धतियाँ प्रचलित थीं। तुलसीदास जी ने इन सभी पद्धतियों पर अपना पूरा अधिकार प्रदर्शित किया। उनका साहित्य 'नानापुराण निगमागम सम्मत' है।

तुलसीदास जी ने समाज के विभिन्न स्तरों को बड़े ही निकट से देखा था। धर्म, समाज, साहित्य, भाषा आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने समन्वयात्मक बुद्धि ग्रहण की। उन्होंने लोक और शास्त्र का ही नहीं अपितु प्राचीन और नवीन का, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, सगुण और निर्गुण का, पुराण और काव्य का, शैव और वैष्णव का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पंडित और मूर्ख का समन्वय भी अपने रामचरित मानस में किया। वस्तुतः तुलसीदास जी समन्वयवादी कवि हैं।

विशिष्टाद्वैत मत में दीक्षित होते हुए भी वे अद्वैत में आस्था रखते थे। मानस में दोनों ही अविरोधी भाव से विद्यमान हैं। व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर गोस्वामी जी का पूर्ण अधिकार था। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, "जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती हैं, वहाँ पाठक का मन चील की तरह मँडराकर प्रतिपादित सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि से मानव-प्रकृति का अत्यन्त ही सही और मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। वे 'स्वान्तः सुखाय' काव्य रचना में प्रवृत्त होते हैं फिर भी वैयक्तिकता से ग्रसित नहीं होते। उनकी रामकथा में जीवन के मर्म को स्पर्श करनेवाले सभी रसों का समावेश है। मर्यादा के आदर्श उनके राम सौन्दर्य, शक्ति और शील से सम्पन्न सभी मानवोचित गुणों से युक्त हैं। यही कारण है कि आज मानस उत्तरी भारत की जनता का वेद बन गया है। कविता को तुलसी के हाथों से सजने-सँवरने से गौरव का स्थान मिला।

सेनापति—अपने समय के भावुक और सिद्धहस्त कवि तो थे ही, जिससे उनकी रचनाओं में श्लेष, अनुप्रास और यमक अलंकार की छटा देखते ही बनती है। इन्होंने अपने कवित्तों में शब्द श्लेष पर विशेष ध्यान दिया है। ये व्रज भाषा लिखने में बड़े ही सिद्धहस्त थे। श्लिष्ट काव्य लेखन में उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' में खड़ी बोली के कतिपय रूपों का भी प्रभाव देखने को मिल जाता है। ये राम के उत्कट भक्त थे, पर इन्होंने कृष्ण और शिव का भी गुणगान किया है।

उत्तर मध्यकाल (रीति और शृङ्गार साहित्य) सन् १६५०-१८५० तक

उत्तर मध्यकाल का आरम्भ विक्रम की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में ही हो जाता है। इस समय तक आते-आते केन्द्रीय शासन पर मुगलों का आधिपत्य

हो चुका था। यह वह युग था जब राजाओं और सम्राटों में कलाप्रियता पराकाष्ठा पर पहुँच रही थी। सम्राट् अकबर के नेतृत्व में एक शक्तिशाली शासन की स्थापना हो चुकी थी जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मावलम्बियों में लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था। अकबर की कलाप्रियता, विद्यानुराग तथा उदारवादी दृष्टिकोण ने भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कला में एक नवीन मोड़ ला दिया। उसने साहित्यकारों को अपने दरबार में धन, जागीर और उच्च स्थान से सम्मानित किया। उनके अनुकरण में देशी राजाओं ने भी अपने दरबार में कवियों को सम्मानित ढंग से आश्रय देना शुरू किया। फलस्वरूप कवियों का रहन-सहन साधारण स्तर से ऊपर राजा और नवाबों का सा हो गया। भाषा कवियों के इस आशातीत सम्मान को देखकर अधिक से अधिक लोग इस ओर आकर्षित हुए और दरबारी आश्रय ढूंढ़ने लगे। परिणामस्वरूप इस काल के कवि दरबारी संस्कृति की चकाचौंध से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

कला संस्कृति और साहित्य का केन्द्रस्थल मुगल दरबार कलाकारों और सामंतों का जमघट बनकर रह गया। लोक जीवन की उपेक्षा हुई तथा सामन्ती और दरबारी संस्कृति का उदय हुआ। साज-सज्जा और अलंकरण की प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। इन सामन्ती दरबारों को देखकर तत्कालीन भारत की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का पता लगा सकना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य था। कारण यह कि ये सामन्त-दरबार वास्तविक भारत से एकदम भिन्न थे। वे समाज में रहकर भी समाज से अलग थे। इन दरबारों मे लिखी गई कविताओं में जन-साधारण के जीवन की झलक नहीं, अपितु सामन्ती जीवन और दरबारी संस्कृति का विलास अभिव्यक्त हुआ है।

दरबारी संस्कृति की चकाचौंध में प्रबन्ध काव्यों के लिए अनुकूल भूमि नहीं मिल पायी जिससे मुक्तक काव्यों को इस काल के कवियों ने अपनी रचना का माध्यम बनाया। दरबारों में हिन्दी के इन कवियों की प्रतिद्वन्द्विता उर्दू और फारसी के शायरों से होने लगी। "फारसी की रचना प्रेम का ही बंधा-बंधाया विषय लेकर चलती थी जिसकी जोड़ में हिन्दी कवियो ने शृंगार या नायक-नायिका भेद की रचनाएँ सामने कीं। उधर से वे शेर पढ़ते थे या गजल गाते थे, इधर से कवित्त, सवैया या दोहा सुनाते थे।" परिणामस्वरूप लक्षण ग्रन्थों के निर्माण के साथ ही साथ नायक-नायिका भेद और अलंकार वर्णन जैसे लक्षण ग्रन्थों का भी निर्माण बहुत अधिक संख्या में हुआ। इस युग के कवि संस्कृत के लक्षणकार आचार्यों की तरह रचना करने लगे। लेकिन वे संस्कृत के आचार्यों से भिन्न थे क्योंकि इनमें कवित्व और आचार्यत्व दोनों गुणों का सम्मिश्रण था। मूलतः इस युग के साहित्यकार आचार्य न होकर कवि थे, केवल परम्परा के निर्वाह के लिए लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करते थे। लक्षण ग्रंथों के निर्माण की एक परिपाटी-सी चल पड़ी थी। लक्षण-

ग्रन्थों, अलंकारों और काव्य पद्धतियों की एक लीक पर चलने के कारण इन कवियों को रीति कवि कहा जाता है किन्तु इनकी कला का मूलाधार नायक-नायिका भेद, शृङ्गारपरक रति और प्रेम होने के कारण इस युग को 'श्रृंगार काल' की भी संज्ञा दी गयी। इस युग के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया—रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले और उनके उदाहरण के लिए लक्ष्य ग्रन्थों की रचना करने वाले कवि रीतिबद्ध कहलाये। जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना ही नहीं की किन्तु उनकी कविता में लक्षण ग्रन्थों में वर्णित सभी नियमों के उदाहरण उपलब्ध हैं वे रीतिसिद्ध कवि कहलाये। और रीतिमुक्त कवि वे थे जिन्होंने बिना किसी आग्रह या बन्धन के अपनी श्रृंगारपरक रचनाएँ कीं और स्वयं को वैयक्तिक अनुभूति को ही स्वर दिया।

इस युग के नामकरण के प्रश्न पर सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी, जब कि पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसे 'श्रृंगार काल' के नाम से सम्बोधित किया। इस युग के कवियों की प्रवृत्ति पूर्व मध्यकालीन कवियों की प्रवृत्ति से नितांत भिन्न है। इस काल में काव्य को प्रसार भूमि सिमटकर छोटी हो गयी थी। कवियों की दृष्टि नारी-सौंदर्य और उसकी भाव-भंगिमाओं पर ही केन्द्रित होकर रह गयी थी। नारी के विषय में संकुचित दृष्टिकोण रखनेवाले ये कवि नारी को विलास को वस्तु एवं पुरुषों के आकर्षण का केन्द्र मानते थे। कामशास्त्र, उक्ति-वैचित्र्य का विवेचन करने वाला अलंकार शास्त्र तथा रस शास्त्र इन कवियों के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत थे। इस युग के अधिकांश कवियों ने अलंकार ग्रन्थों को परिपाटी पर लक्षण ग्रन्थों का लिखना अपना उत्तरदायित्व समझा। कुछ ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने अलंकार और रस, दोनों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की। इसमें केशव प्रमुख थे।

केशवदास—केशवदास के मुख्य ग्रन्थ हैं—'रसिक प्रिया', 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया', 'नखशिख', 'रतनबावनी', 'बीरसिंह देव चरित', 'विज्ञानगीता' और 'जहाँगीरजसचन्द्रिका'। उनके लक्षण ग्रन्थ 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर रामचन्द्रिका की रचना रामकाव्य के अन्तर्गत की, वहाँ दूसरी ओर रीतिकाव्य के अन्तर्गत कवि प्रिया और रसिक प्रिया का रचना की और वीर काव्य के रूप में 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' तथा 'वीरसिंह देवचरित' की रचना की। इस प्रकार अपने पांडित्य द्वारा प्रत्येक प्रकार की काव्य-धारा में योगदान दिया।

केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। 'शुक्ल जी' ने हृदयहीन कवि की संज्ञा दी है। केशवदास में मौलिकता का अभाव है। उन्होंने संस्कृत-काव्य की सामग्री को हिन्दी में सर्वग्राह्य बनाया है। उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्यों की रचना की है। किन्तु चमत्कार के लिए प्रयुक्त अलंकारों की अधिकता से उनका काव्य बोझिल और नीरस हो गया है। वे संस्कृत के पंडित

थे। अतः इनकी भाषा परिमार्जित तो नहीं, हाँ क्लिष्ट अवश्य हो गयी है। 'रामचन्द्रिका' में इन्होंने विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग कर छन्दों पर अपना अधिकार दर्शाया है। इसके बावजूद रामचन्द्रिका में संवाद और नाटकीय स्थल अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़े हैं।

मतिराम—उत्तर मध्यकाल के श्रृंगारी कवियों में मतिराम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये रससिद्ध कवि हैं। 'फूल मञ्जरी', 'रसराज', 'छन्दसार', 'ललितललाम', 'मतिराम सतसई', 'साहित्यसार', 'लक्षण श्रृङ्गार' तथा 'अलंकार पंचाशिका' इनकी रचनाएँ हैं। 'रसराज' इनकी अत्यन्त प्रौढ़ एवं शास्त्रीय पद्धति से समन्वित रचना है। इस ग्रन्थ के उदाहरणों में भाव और भाषा दोनों का सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। सरलता और स्वाभाविकता इनके काव्य की विशेषता है। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। इन्होंने 'मतिराम सतसई' के दोहों को जो सरसता प्रदान की वह बेजोड़ है। ये दोहे मतिराम की मौलिक प्रतिभा, सरसता और उनके सौष्ठव के परिचायक हैं।

बिहारी—कविवर बिहारी ने अपनी कलात्मकता के कारण साहित्य-जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त की। बिहारी की सतसई में अर्थपरक रमणीयता-युक्त शब्दालंकारों का प्रयोग है जो रसोद्रेक के लिए सहायक हैं। जब कि अन्य रीतिकालीन कवियों में यह विशेषता नहीं पायी जाती है। बिहारी के दोहों में अलंकारों का प्रयोग जब आवेग सहचर के रूप में किया गया है तो वहाँ अधिक प्रभावकारी तेज दृष्टिगत होता है।

बिहारी की सतसई की सफलता का रहस्य उनकी सुन्दर अनुभाव-योजना, बिम्ब-विधान और चित्रोपमता है। उन्होंने अपेक्षित उपादानों का भी कुशलता-पूर्वक चयन करके कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके वियोग श्रृङ्गार के वर्णन मे फारसी कवियों के प्रभाव के कारण ऊहात्मक अभिव्यक्ति के साथ स्वाभाविकता भी द्रष्टव्य है। इस प्रकार श्रृंगार चित्रण मे बिहारी को मौलिकता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

बिहारी की भाषा शुद्ध एवं साहित्यिक ब्रजभाषा है। उन्होंने बड़ी सफलता के साथ उपयुक्त उपादानों को प्रस्तुत करने के लिए सटीक शब्दों का चयन किया है। इन्होंने मुहाविरों का भी सफल प्रयोग किया है। बिहारी ने समास-पद्धति के माध्यम से सीमित शब्दों में असीमित बात कही है जो उनकी निजी विशेषता है। इसलिए बिहारी ने 'गागर में सागर भर दिया है' उक्ति प्रसिद्ध है। इस प्रकार बिहारी एक भाषा-प्रवीण कवि सिद्ध होते हैं।

देव—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार देव रीतिसिद्ध कवि होने के कारण आचार्य भी थे। काव्य का विस्तृत 'कैनवास' अपनाने के कारण इनकी कवित्वशक्ति-गहन अनुभूति, अर्थ-रमणीयता और व्यंजना के क्षेत्र में कुण्ठित हो गयी प्रतीत होती

है। देव के काव्य में सूक्ष्म कल्पनाओं और अर्थसौष्ठव तथा अभिप्रेत भावों का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

उन्होंने नायिकाभेद का विस्तृत विवेचन करके सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। देव ने गार्हस्थ्य जीवन के मादक एवं मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। कवित्वशक्ति और मौलिकता से सम्पन्न होने के बावजूद उन्होंने चमत्कार के आग्रहवश सुन्दर से सुन्दर भावों को नष्ट कर दिया है। उनके काव्य के मुख्य विषय कला और सौन्दर्य हैं। रीतिकाल में सौन्दर्य की परिधि नारी के अंग-वर्णन तक ही सीमित हो गयी थी, इसलिए नायक और नायिका को शृङ्गार का आधार मानकर देव ने विभिन्न स्थितियों को रंग और रेखाओं से चित्रित कर इतना व्यापक फलक प्रदान किया है कि प्रायः मूल तथ्य तिरोहित हो गया है।

भूषण—भूषण का रचनाकाल घोर शृङ्गार का युग था, ऐसे समय में वीर रस की भैरवी सुनाकर भूषण ने अपनी स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति का परिचय दिया। उनकी वीर भावना व्यापकता के लिए हुए हैं, जिसमें राष्ट्रीय भावना का उद्रेक हुआ है। इनके चार ग्रन्थों—'शिवराज भूषण', 'भूषण हजारा', 'भूषण उल्लास' और 'दूषण-उल्लास' का उल्लेख मिलता है, लेकिन प्रथम दो ही उपलब्ध हैं। अपने आश्रय-दाता शिवाजी और छत्रसाल सम्बन्धी वीर रस के कवित्त इन्होंने लिखे हैं जिसका प्रकाशन बाद में 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक' के नाम से किया गया।

वीर रस के व्यापक क्षेत्र को चुनकर भूषण ने अपनी मौलिकता और अदम्य व्यक्तित्व का परिचय दिया है। शिवाजी के ओजपूर्ण व्यक्तित्व के चित्रण के लिए भूषण ने अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं। भाषा की दृष्टि से भूषण अधिक सफल नहीं हो सके। उनकी भाषा वीर-दर्प-पूर्ण होने के बावजूद आडम्बरयुक्त और अव्यवस्थित है। उनकी साहित्यिक ब्रज भाषा में फारसी, अरबी और तुर्की आदि के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

घन आनन्द—घनानन्द रीतिमुक्त काव्यधारा के स्वच्छन्दतावादी कवि हैं। यद्यपि इन्होंने भक्ति काव्य की रचना की, किन्तु ज्यादातर कविताए शृङ्गार भावना से ओत-प्रोत हैं। इनकी अनुभूति बड़ी ही सशक्त तथा भाव व्यंजना बड़ी तीव्र है। यद्यपि शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को इन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया तथापि वियोग वर्णन में इन्हें अधिक सफलता मिली है। इनकी मनोवृत्ति प्रेम और सौन्दर्य के बाह्य निरूपण की अपेक्षा हृदय के आन्तरिक भावों के विश्लेषण में अधिक रमी है। प्रेम और विरह की अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दशाओं का विश्लेषण और मार्मिक व्यंजना अन्य किसी शृङ्गारी कवि में देखने को नहीं मिलती। इनका विरह वर्णन ऊहात्मक न होकर अत्यन्त ही स्वाभाविक है।

अनुभूति पक्ष के साथ ही साथ घनानन्द का अभिव्यंजना-कौशल भी अद्वितीय है। इन्होंने शब्दों के काव्योपयुक्त एवं लाक्षणिक प्रयोग किये हैं। चमत्कारमूलक

अलंकारों, विशेषकर विरोधाभास के प्रयोग में ये सिद्धहस्त हैं। इनकी भाषा भावाभिव्यंजक, अत्यन्त शुद्ध तथा माधुर्य गुण से युक्त है। शुक्ल जी के शब्दों में—'भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा कोई नहीं हुआ। भाषा के व्यंजक और लक्षक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"

बोधा—फारसी के अच्छे जानकार थे। 'विरह-वारीश' इनकी प्रमुख रचना है। इनकी एक और रचना 'इश्कनामा' है। सभी रचनाओं में स्वच्छन्द प्रेमभाव की अभिव्यक्ति मिलती है।

आलम—'माधवानन्द कामकंदला' नामक इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। पुरानी पुस्तकें 'शेख आलम के कवित्त' नामक शीर्षक से मिलती हैं। 'शेख' के प्रेम में ये ब्राह्मण से मुसलमान हो गये थे। उच्चकोटि की प्रेम व्यंजना इनकी कविताओं में मिलती है।

ठाकुर—स्वच्छन्द धारा के कवियों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित 'ठाकुर-ठसक' में इनकी प्रमुख रचनाएँ आ गई हैं जिनमें ऐकांतिक प्रेम-व्यंजना को स्वर मिला है। ये फारसी काव्य-धारा के भी अच्छे जानकार थे।

द्विजदेव—उत्तर मध्यकालीन रीतिमुक्त धारा के कवियों में 'द्विजदेव' का हिन्दी-साहित्य में पदार्पण 'शृङ्गार बत्तीसी' और 'शृङ्गार लतिका' दो रचनाओं के माध्यम से हुआ। इन्होंने शृङ्गारी काव्य की रचना तो की ही, साथ ही साथ भक्ति के कुछ पदों को भी लिखा। इनकी भाषा अत्यन्त सहज तथा प्रवाहयुक्त होने के कारण बोधगम्य है। इनके काव्य में भावों का आकर्षक विन्यास आद्यन्त परिलक्षित होता है।

पद्माकर—रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर हैं। 'हिम्मतबहादुर-बिरदावली', 'जगत विनोद' और 'पद्माभरण' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अन्य ग्रन्थों में 'प्रबोध पचासा', 'गंगालहरी' और 'राम रसायन' का उल्लेख किया जाता है। ये मूलतः कवि थे, आचार्य नहीं, किन्तु समय के प्रवाह में पड़कर उन्होंने भी अपनी रचनाओं को लक्षणानुकूल बनाने का असफल प्रयत्न किया है। इनकी भाषा ब्रज थी पर उसमें बुन्देलखण्डी और अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। लोकप्रियता और सरसता की दृष्टि से कविवर बिहारी और मतिराम के अतिरिक्त इस काल में उनकी टक्कर का अन्य कोई कवि नहीं हुआ।

आधुनिक काल (१८५० से)

अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रीतिकालीन काव्य-धारा का प्रवाह मन्द पड़ने लगा। धीरे-धीरे रीति का बोझिल आवरण हटने लगा और आधुनिकता का अवतरण हुआ। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर नव जागरण अँगड़ाई ले रहा था। साहित्य का क्षेत्र भी इससे अछूता न रह सका।

फलस्वरूप नवयुग की अवतारणा के साथ ही साथ हिन्दी के साहित्यिकों में विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ है। भाषा के शब्दकोष में अक्षय वृद्धि हुई। गद्य का विकास हुआ और कवियों ने रीतिकालीन परिपाटी-विहित एवं रूढ़िग्रस्त कविता को छोड़कर नई आँखों से संसार का अवलोकन किया। गद्य के माध्यम से आधुनिक प्रवृत्तियों की अभिव्यञ्जना आरम्भ हो गयी। इस युग के कवियों के काव्य में जो भाव व्यक्त हुआ है वह आधुनिक प्रवृत्ति का ही परिणाम था किन्तु काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही थी। इन कवियों ने गद्य में प्रयुक्त खड़ी बोली को काव्यभाषा नहीं बनाया। ब्रजभाषा में ही आधुनिक परिवेश, विचारों एवं भावों को सन्निविष्ट किया। इस काल के कवियों के केन्द्रबिन्दु थे आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिनके उदय के पश्चात् आधुनिककाल सामने आया और सभी साहित्यरूपों में खड़ी बोली माध्यम की भाषा बनी।

: १ :

कबीर

साखी

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौंहाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तें देवता, करत न लागी वार॥१·१॥
चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।
तिहिं घरि किसकौ चानिणौ, जिहिं घरि गोविंद नांहि॥१·२॥
सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सवद जु वाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक॥१·३॥
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणाँ, बहुरि न आँवौं हट्ट॥१·४॥
अंबर कुंजा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पै गोविंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल॥१·५॥
चकवी बिछुटी रैंणि की, आन मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूँ, ते दिन मिलैं न राति॥१·६॥
तत पाया तन बीसर्‌या, जब मन धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान॥१·७॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया, (जब) दीपक देख्या मांहि॥१·८॥
मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥१·९॥
हरि रस पीया जांणिये, (जे) कबहुँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन को सार॥१·१०॥

बिरहिन ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवाँ पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥१·११॥
काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट।
बलिहारी ता दास की, (जे) रहै राम की ओट ॥१·१२॥
दीपक पावक आँणिया, तेल भी आँण्या संग।
तीन्यूँ मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़े पतंग ॥१·१३॥
खीर रूप हरि नांव है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जांनणहार ॥१·१४॥
नां कछु किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जो कछु किया सु हरि किया, (ताथैं) भया कबीर कबीर ॥१·१५॥
सांई मेरा बांणियां, सहजि करै ब्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ै, तौले सब संसार ॥१·१६॥
कबीर सबद सरीर मैं, बिनु गुण बाजै तंति।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, ताथैं छूटि भरंति ॥१·१७॥
अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उत्तर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥१·१८॥
प्रेम न खेती नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥१·१९॥
काची काया मन अथिर, थिर थिर काम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै, त्यूं त्यूं काल हसंत ॥१·२०॥
अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहाँ होइ।
मन भँवरा तहाँ लुबधिया, जाँणैगा जन कोइ ॥१·२१॥

पद

दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥
तन रत करि मैं, मन रत करिहूँ, पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुँनें आये, मैं जोबन मैंमाती ॥

सरीर सरोवर बेदी करिहूं, ब्रह्मा बेद उचार ।
रामदेव सँग भाँवरि लैहूं, धनि धनि भाग हमार ॥
सुर तैंतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठचासी ।
कह कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥१·२२॥

जल मैं उतपति जल मैं वास । जल मैं नलनी तोर निवास ॥
ना तलि तपति न ऊपरि आग । तोर हेतु कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदकि समान । ते नहीं मुए हमारे जान ॥१·२३॥

सन्तो राह दुनों हम डीठा ।
हिन्दू तुरक हटा नहीं मानैं, स्वाद सभन्हि को मीठा ॥
हिन्दू बरत एकादसि साधै, दूध सिंघारा सेंती ।
अन को त्यागैं मन को न हटकैं, पारन करैं सगोती ॥
तुरुक रोजा नमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं ।
इनकी भिस्त कहाँ ते होइहै, साँझें मुरगी मारैं ॥
हिन्दू की दया मेहर तुरुकन की, दोनौं घट सौं त्यागी ।
वै हलाल वै झटकैं मारैं, आगि दुनौं घर लागी ॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम न कहेउ खुदाई ॥१·२४॥

अपनपौ आपु हो बिसरो ।
जैसे सुनहा काँच मँदिल महँ, भरम ते भूँसि मरो (रे) ॥
जौं केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो (रे) ।
वैसे ही गज फटिकसिला पर दसनन्हि आनि अरो (रे) ॥
मरकट मूँठि स्वाद नहि विहुरै, घर घर रटत फिरो (रे) ।
कहहिं कबोर ललनी के सुगना, तोहि कवने पकरो (रे) ॥१·२५॥

रमैनी

बरनहुँ कौन रूप और रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा।
औ ओंकार आदि नहिं बेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा।
नहिं तारागन नहिं रवि चन्दा, नहिं कछु होत पिता के विन्दा।
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पौना, को वरे नाम हुकुम को वरना।
नहिं कछु होत दिवस औ राती, ताकर कहहु कौन कुल जाती ॥

साखी—सुन्न सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोति।
बलिहारी ता पुरुष की, निरालम्ब जो होति ॥१२६॥

अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि वँधे वँधा सब कोई।
जेहि झूठे वँधाय अयाना, झूठी बात साँच कै जाना।
धन्धा बन्धा किन्ह बेवहारा, करम विबरजित बसै निआरा।
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा, षटरस बास षट वस्तुहिं चीन्हा।
चारि वृक्ष छव साख बखानै, विद्या अगनित गनै न जानै।
अवरो आगम करै विचारा, ते नहिं सूझै वार न पारा।
जप तीरथ व्रत कीजै पूजा, दान पुन्य कीजै बहु दूजा ॥

साखी—मन्दिर तौ है नेह का, मति कोई पैठे धाय।
जो कोई पैठे धाय के, विनु सिर सेंतिहि जाय ॥१२७॥

अस जोल्हा का मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना।
महि अकास दुइ गाड़ खँदाया, चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया।
सहस तार लै पूरिन पूरी, अजहुँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहिं कबीर करम सो जोरी, सूत-कुसूत बिनै भल कोरी ॥१२८॥
पण्डित भूले पढ़ि गुनि. वेदा. आपु अपनपौ जान न भेदा।
संझा तरपन औ षट कर्मा, ई बहु रूप करहिं अस धर्मा।
गाइत्री जुग चारि पढ़ाई. पूछहु जाइ मुक्ति किन पाई।
और के छुए लेत हौ सींचा, तुमते कहत कौन है नीचा।
ये गुन गर्व करहु अधिकाई, अधिके गर्व न होय भलाई।
जासु नाम है गर्व प्रहारी, सो कस गर्वहिं सकै सहारी ॥

साखी - कुल मरजादा खोय कै, खोजिनि पद निर्वान।
अंकुर बीज नसाय कै, भए विदेही थान ॥१·२९॥

ऐसा जोग न देखा भाई, भूला फिरै लिये गफिलाई।
महादेव को पंथ चलावै, ऐसो बड़ो महन्त कहावै।
हाट बजारै लावै तारी, काचे सिद्धहि माया प्यारी।
कब दत्तै मावासी तोरी, कब सुखदेव तोपची जोरी।
नारद कब बन्दूक चलाई, ब्यासदेव कब वंब बजाई।
करहिं लराई मति के मंदा, ई अतीत की तरकस बंदा।
भये बिरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिरि लजावै बाना।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा, गाँव पाय जस चले करोरा ॥

साखी—तिय सुन्दरी न सोहई, सनकादिक के साथ।
कबहुँक दाग लगावै, कारी हाड़ी दाग ॥१·३०॥

: २ :

जायसी

मानसरोदक खण्ड

एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई।
पदुमावति सब सखीं बोलाईं। जनु फुलवारि सबै चलि आईं।
कोइ चम्पा कोइ कुन्द सहेलीं। कोइ सुकेत करना रस बेलीं।
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकचुन बिहँसाती।
कोइ सु बोलसरि पुहुपावती। कोइ जाही जूहीं सेवती।
कोई सोनजरद जेउँ केसरि। कोइ सिंगारहार नागेसरि।
कोइ कूजा सदबरग चँबेली। कोई कदम सुरस रस बेली।
भेलीं सबै मालनि सँग फूले कँवल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रप बास परिमलामोद ॥२·१॥

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं।
देखि सरोवर रहसहिं केली। पदुमावति सौं कहहिं सहेली।
ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।
कित आवन पुनि अपने हाथाँ। कित मिलि कै खेलब एक साथाँ।
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं।
पिउ पिआर सिर ऊपर सो पुनि करै दहुँ काहु।
कहुँ सुख राखै की दुख दहुँ कस जनम निबाहु ॥२·२॥

सरवर तीर पदुमिनी आई। खोंपा छोरि केस मोकराई।
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरघानी।

ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन जनु राहाँ।
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लै निसि लखत चांद परगसा।
भूलि चकोर दिस्टि तलँ लावा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा।
दसन दामिनी कोकिल भाषी। भौंहैं धनुक गगन लै राखी।
नैन खँजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारँग मधुकर रस लेहीं।
सरवर रूप बिमोहा हिएँ हिलोरे करेइ।
पाय छुअइ मकु पावों तेहि मिसु लहरैं देइ ॥२३॥

धरीं तीर सब छीपक सारी। सरवर महँ पैठीं सब बारी।
पाएँ नीर जानु सब बेलीं। हुलसी करहिं काम क केली।
नवल बसंत सँवारहि करीं। होइ परगट चाहहि रस भरीं।
करिल केस बिसहर बसभरे। लहरैं लेहिं कँवल मुख धरे।
उठे कोंप जनु दारवँ दाखा। भई ओनंत प्रेम कै साखा।
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा।
धनि सो नीर ससि तरईं उईं। अब कत दिस्ट कँवल औ कुईं।
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर दिन दोसर जल माँह ॥२४॥

लागीं केलि करै मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा।
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी।
बादि मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जो खेलत हारा।
सँवरिहि साँवरि गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी।
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हारु न होइ पराएँ हाथा।
आजुहि खेल बहुरि कित होई। खेल गएँ कत खेलै कोई।
धनि सोई खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूपल खेमा।
मुहमद बारि परेम की जेउँ भावै तेउँ खेल।
तीलहि फूलहि संग जेउँ होइ फुलाएल तेल ॥२५॥

सखी एक तेइँ खेल न जाना। चित अचेत भइ हार गँवाना।
कँवल डार गहि भै बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा।
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ सैं हाथाँ।
घर पैठत पूँछब एहि हारू। कौन उतर पाउबि पैसारू।
नैन सीप आँसुन्ह तस भरे। जानहु मोंति गिरहिं सब ढरे।
सखिन्ह कहा भारी कोकिला। कौनु पानि जेहि पौनु न मिला।
हारु गँवाइ सो ऐसेहिं रोवा। हेरि हेराइ लेहु जौं खोवा।
लागीं सब मिलि हेरै बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठि मोती लै घोंघा काहू हाथ ॥२६॥

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसें। पावा रूप रूप कें दरसें।
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।
न जानौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहि रूप जहाँ जो देखा।
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे।
नैन जो देखे कँवल भए निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर ॥२७॥

नागमती-विरह

बारहमासा

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।
धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए।
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घनघोरा।
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहिं पिय बिनु को आदर देई।
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।

दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहै न जीऊ।
पुख नक्षत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा।
जिन्ह घर कन्ता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्व।
कन्त पियारा वाहिरें हम सुख भूला सर्व ॥२·८॥

सावन बरसि मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं विरह झुरानी।
लागु पुनर्वसु पीउ न देखा। भै बाउरि कहँ कन्त सरेखा।
रकत क आँसु परे भुइँ टूटी। रेंगि चली जनु बीरबहूटी।
सखिन्हि रचा पिउ संग हिंडाला। हरियर भुइँ कुसुंभि तन चोला।
हिय हिंडाल जस डालै मोरा। विरह झुलावै देह झँकोरा।
बाट असूझ अथाह गँभीरा। जिउ बाउर भा भवै भँमीरा।
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोर नाव खेवक विनु थाकी।
परवत समुंद्र अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख।
किमि करि भेंटौं कंत तोहिं ना मोहिं पाँव न पंख ॥२·९॥

भा भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी।
मँदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा।
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।
चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जस ओरी।
पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी।
धनि सूखी भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ न सींचसि नाहाँ।
जल थल भरे अपूरि सब गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोवन औगाह महँ दे बूड़त पिय टेक ॥२·१०॥

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुँ आउ पिउ परभुमि लटा।
तोहि देखे पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त फेरि करु माया।
उए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरे पलानि चढ़े रन राजा।

चित्रा मिंत मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा।
स्वाति बूंद चातिक मुख परे। सीप समुन्द्र मोति लै भरे।
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरुरहिं खँजन देखाए।
भए अवगास कास बन फूले। कन्त न फिरे बिदेसहि भूले।

बिरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय वाजहु गाजहु होइ सदूर ॥२·११॥

कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी।
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुँ जरै सब धरति अकासू।
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद मोहि होइ राहू।
चहूँ खण्ड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिन कन्त पियारा।
अबहूँ निठुर आव एह बारा। परब देवारी होइ संसारा।
सखि झूमक गावहिं अँग मोरी। हौं झूरौं बिछुरी जेहि जोरी।
जेहि घर पीउ सो मुनिवर पूजा। मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा।

सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कन्त बिनु रही छार सिर मेलि ॥२·१२॥

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी।
अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै बिरह ज्यों दीपक बाती।
काँपा हिया जनावा सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ।
घर घर चीर रचा सब काहूँ। मोर रूप रँग लैगा नाहूँ।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई।
सियरि अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा।
यह दुख दगध न जानै कन्तू। जोबन जरम करै भसमन्तू।

पिय सौं कहेहु सँदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहें जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग ॥२·१३॥

पूस जाड़ थरथर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा।
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ। कँपि कँपि मरौं लेहि हरि जीऊ।
कंत कहाँ हौं लागौं हियरे। पंथ अपार सूझ नहिं नियरे।
सौंर सपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी।
चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसै जिऔं बिछोही पँखी।
बिरह सँचान भँवै तन चाँड़ा। जायत खाइ मुएँ नहिं छाँड़ा।
रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख ॥२·१४॥

लागेउ माह परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला।
पहल पहल तन रुई जो झाँपै। हहलि हहलि अधिकौ हिय काँपै।
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ।
एहि मास उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर मोर जोबन फूलू।
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू।
टूटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला।
केहिक सिंगार को पहिरि पटोरा। गिवँ नहिं हार रही होइ डोरा।
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुइ तन तिनुवर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल ॥२·१५॥

फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा।
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा।
तरिवर झरै झरै बन ढाँखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा।
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू।
फाग करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्ह जसि होरी।
जौं पै पियहिं जरत अस भावा। जरत मरत मोहिं रोस न आवा।
रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागौं कंत छार जेउँ तोरें।

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरे जहँ पाउ ॥२'१६॥

चैत बसंता होइ धमारी। मोहिं लेखें संसार उजारी।
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरो बन ढारै।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीज मँजीठ टेसु बन राता।
मौरै आँव फरै अब लागे। अवहुँ सँवरि घर आउ सभागे।
सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरै सँवरि मालती।
मोकहँ फूल भए जस काँटे। दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे।
भर जोवन एहु नारँग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा।

घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि।
नारि पराएँ हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि ॥२'१७॥

भा वैसाख तपनि अति लागी। चोवा चीर चँदन भा आगी।
सूरज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौहँ रथ हाँका।
जरत बजागिनि होउ पिय छाँहा। आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि सों करु फुलवारी।
लागिउँ जरै जरै जस भारू। बहुरि जो भूँजसि तजौं न बारू।
सरवर हिया फटत निति जाई। टूक टूक होइ होइ बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दिस्ट दवँगरा मेरवहु एका।

कँवल जो बिगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौं पिय सींचहु आइ ॥२'१८॥

जेठ जरै जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा।
बिरह गाजि हनिवँत होइ जागा। लंका दाह करै तन लागा।
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका दाहि पलंका लागी।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन अति मंदी।
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी।

अधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ विरह काग होइ भूखा।
माँसु खाइ अब हाँड़न्ह लागा। अजहुँ आउ आवत सुनि भागा।
परवत समुँद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहि यह आगि।
मुहमद सती सराहिअै जरै जो अस पिय लागि ॥२·१९॥

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भै मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी।
तन तिनुवर भा झूरौं खरी भै विरहा आगरि सिर परा।
साँठि नाहिं लगि बात का पूँछा। विनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा।
बंध नाहिं और कंध न कोई। बात न आव कहौं केहि रोई।
ररि दूबर भइ टेक विहूनी। थंभ नाहिं उठि सकै न थूनी।
बरिसहिं नैन चुअहिं घर माहाँ। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाँहाँ।
को रे कहा ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजनि छाजा।
अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ।
मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ ॥२·२०॥

रोइ गँवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा।
तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई।
सो न आउ पिउ रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो नारी।
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौन सो घरी करैं पिउ फेरा।
दहि कोइल भै कन्त सनेहा। तोला माँस रहा नहिं देहा।
रकत न रहा बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा।
पाव लागि चेरी धनि हाहा। चूरा नेहु जोरु रे नाहा।
बरिस देवस धनि रोइकै हारि परी चित झाँखि।
मानुस घर घर पूँछि कै पूँछै निसरी पाँख ॥२·२१॥

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिन सवति दीन्ह चिल्हगाँसू।
होइ खर बान बिरह तन लागा। जौं पिय आवै उड़हू कागा।
हारिल भई पन्थ मैं सेवा। अब यहँ पठवौं कौनु परेवा।

धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जौं चित रोख न दोसर नाऊँ।
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा। करे मेराउ सोइ गौरवा।
कोइलि भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे दही।
पियरि तिलोरि आव जलहंसा। बिरहा पैठि हिएँ कत नंसा।
जेहि पंखी कहँ अढ़वौ कहि सो बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ डहि तरिवर होइ निपात ॥२·२२॥

कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई।
भइ करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती।
जहँ जहँ ठाढ़ि होई बनवासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचिन्ह कै रासी।
बुंद बुंद महँ जानहुँ जीऊ। कुंजा गुंजि करहिं पिउ पिऊ।
तेहि दुख डहे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते।
राते बिंब भए तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ।
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता।
ना पावस ओहि देसरें ना हेवन्त बसन्त।
ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहि कन्त ॥२·२३॥

: ३ :

सूर

अबिगति-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगै मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन वानी को अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै॥
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-विनु निरालंव मन चक्रित धावै।
सब विधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन-लीला-पद गावै॥३·१॥

माधौजू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तें आप-आगै दई, लै आइये चराइ॥
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति।
फिरति बेद-वन ऊख ऊखारति, सब दिन अरु सब राति॥
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माँह।
सुख सोऊँ सुनि वचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँह॥
निघरक रहौ सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलै लेहु निबेरि॥३·२॥

रे मन आपु कौ पहिचानि।
सब जनम तैं भ्रमत खोयौ, अजहुँ तौ कछु जानि॥
ज्यौ मृगा कस्तूरी भूलै, सु तौ ताकैं पास।
भरम ही वह दौरि ढूँढै, जबहिं पावै बास॥
भरम ही बलवंत सब मैं, ईसहू कै माइ।
जब भगत भगवंत चीन्है, भरम मन तें जाइ॥

सलिल कौ सब रंग तजि कै एक रंग मिलाइ।
सूर जो है रंग त्यागै, यहै भक्त सुभाइ ॥३·३॥

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सबद-रसाल।
भरम-भर्‌यौ मन भयौ पखावज, चलत असंगति चाल॥
तृष्ना नाद करति घट भीतर; नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यों, लाभ-तिलक दियो भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नंदलाल ॥३·४॥

वा पट पीत की फहरानि।
कर धरि चक्र, चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि॥
रथ तें उतरि चलनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि।
मानौ सिंह सैल तें निकस्यौ, महामत्त गज जानि॥
जिन गोपाल मेरो प्रन राख्यो, मेटि बेद की कानि।
सोई सूर सहाइ हमारे, निकट भए हैं आनि ॥३·५॥

खेलत नँद-आँगन गोविंद।
निरखि-निरखि जसुमति सुख पावति, बदन मनोहर इंदु॥
कटि किंकिनी चंद्रिका मानिक, लटकन लटकत भाल।
परम सुदेस कंठ केहरि-नख, बिच-बिच बज्र प्रवाल॥
कर पहुँचो, पाइनि मैं नूपुर, तन राजत पटपीत।
घुटुरुनि चलत, अजिर महँ बिहरत, मुख मंडित नवनीत॥
सूर बिचित्र चरित्र स्याम के, रसना कहत न आवैं।
बाल दसा अवलोकि सकल मुनि, जोग बिरति बिसरावैं ॥३·६॥

कहाँ लौं वरनौं सुंदरताइ ?
खेलत कुँवर कनक-आंगन मैं नैन निरखि छवि छाइ ॥
कुल्ही लसति सिर स्यामसुँदर के बहु विधि सुरँग वनाइ ।
मानौं नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाइ ॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन-मुख वगराइ ।
मानौं प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आइ ॥
नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुनाइ ।
सनि, गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाइ ॥
दूध-दंत दुति कहि न जाति कछु अद्भुत उपमा पाइ ।
किलकत हँसत दुरति प्रगटति मनु, घन मैं विज्जु छपाइ ॥
खण्डित वचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाइ ।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, सूरदास वलि जाइ ॥३७॥

हरि जू की बाल-छवि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा हरनि ॥
भुज भुजङ्ग, सरोज नैननि, वदन बिधु जिते लरनि ।
रहे विवरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि ।
मनहुँ सुभग सिँगार-सिसु तरु, फर्‌यौ अद्भुत फरनि ॥
चलत पद-प्रतिबिम्ब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि ।
जलज-सम्पुट-सुभग-छवि भरि लेति उर जनु धरनि ॥
पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि कै नँद घरनि ।
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललित लरखरनि ॥३८॥

सखा कहत हैं स्याम खिसाने ।
आपुहि आपु वलकि भए ठाढ़े अस तुम कहा रिसाने ॥
बीचहिं बोलि उठे हलधर तव याके माइ न वाप ।
हारि-जीत कछु नेकु न समुझत, लरिकनि लावत पाप ॥
आपुन हारि सखनि सौं झगरत यह कहि दियौ पठाइ ।
सूर स्याम उठि चले रोइ कै, जननी पूछति धाइ ॥३९॥

कुँअर जल लोचन भरि-भरि लेत।
बालक बदन बिलोकि जसोदा, कत रिस करति अचेत॥
छोरि उदर तें दुसह दाँवरी, डारि कठिन कर बेंत।
कहि धौं री तोहिं क्यों करि आवै, सिसु पर तामस एत॥
मुख आँसू अरु माखन-कनुका, निरखि नैन छवि देत।
मानौ स्रवत सुधानिधि मोती, उडुगन अवलि समेत॥
ना जानौं किहि पुन्य प्रगट भए इहि ब्रज नन्द-निकेत।
तन मन धन न्यौछावरि कीजै सूर स्याम के हेत॥३·१०॥

माधौ मोहिं करौ बृन्दावनरेनु।
जिहि चरननि डोलत नँद-नंदन, दिन-प्रति वन-वन चारत धेनु॥
कहा भयौ यह देव-देह धरि, अति ऊँचे पद पाएँ ऐनु।
सब जीवनि लै उदर माँझ प्रभु महा प्रलय-जल करत हौ सैनु॥
हम तें धन्य सदा वै तृन द्रुम, बालक-बच्छ बिषान रु बेनु।
सूर स्याम जिनके सँग डोलत, हँसि बोलत, मथि पीवतु फेनु॥३·११॥

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु, आज्ञा गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर-सेज्या पर कर सों पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पै कोपि कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सु सीस डुलावति॥३·१२॥

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नँदनंदन सों उर, यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत सोवत सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जक री।
सुनतहिं जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी॥
सोई ब्याधि हमैं लै आए देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी॥३·१३॥

खंजन नैन रूपरस माते ।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ।।
बसे कहूँ कोइ बात सखी, कह रहे इहाँ किहि नाते ।
सोइ संज्ञा देखति औरासी, विकल उदास कला तें ।।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के कटि ताटंक फँदाते ।
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु कवै उड़ि जाते ।।३·१४।।

कुबिजा नहिं तुम देखी है ।
दधि बेचन जब जाति मधुपुरी, मैं नीकै करि पेखी है ।।
महल निकट माली की बेटी, देखत जिहि नरनारि हँसै ।
कोटि बार पीतरि जौ दाहो, कोटि बार जो कहा कसै ।।
सुनियत ताहि सुंदरी कीन्हीं, आपु भए ताको राजी ।
'सूर' मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताको कहा करै काजी ।।३·१५।।

पिया विनु नागिनि कारी राति ।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति ।।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जाति ।
'सूर' स्याम विनु विकल विरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खाति ।।३·१६।।

देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे ।
मानों मत्त मदन के हथियनि, वल करि वंधन तोरे ।।
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, वरषत थोरे थोरे ।
रुकत न पवन महावत हूँ तें, मुरत न अंकुस मोरे ।।
मनों निकसि वग पंक्ति दन्त उर अवधि सरोवर फोरे ।
बिनु बेला वल निकसि नयन जल, कुच कंचुकि बँद बोरे ।।
तव तिहिं समय आनि ऐरावति, ब्रजपति सों कर जोरे ।
अव सुनि 'सूर' कान्ह केहरि विनु, गरत गात जैसे ओरे ।।३·१७।।

कोउ माई वरजै री या चन्दहि ।
अति ही क्रोध करत है हम पै, कुमुदिनि-कुल आनन्दहि ।।
कहा कहौं वरषा रबि तमचुर, कमल वलाहक कारे ।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, बिरहिन के तन जारे ।।

निंदति सैल उदधि पन्नग को. श्रीपति कमठ कठोरहि ।
देति असीस धरा देवी को. राहु केतु किन जोरहि ॥
ज्यों जलहीन मीन तन तलफति ऐसो गात ब्रजवालहिँ ।
'सूरदास' अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिँ ॥३१८॥

ऊधो तुम ब्रज की दसा विचारो ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग-कथा विस्तारो ॥
जा कारन तुम पठए माधौ, सो साचो जिय माहीं ।
केतिक बीच विरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं ॥
तुम परवीन चतुर कहियत हौ, सन्तन निकट रहत हौ ।
जल बूड़त अवलम्ब फेन को, फिरि फिरि कहा गहत हौ ॥
वह मुसकानि मनोहर चितवनि, कैसे उर तें टारों ।
जोग जुक्ति अरु मुक्ति परम निधि, वा मुरली पर वारों ॥
जिहि उर कमल-नयन जु वसत है, तिहि निरगुन क्यों आवै ।
'सूरदास' सो भजन वहाऊँ, जाहि दूसरो भावै ॥३१९॥

हमको सपनेहूँ मैं सोच ।
जा दिन तें बिछुरे नँदनन्दन ता दिन तें यह पोच ॥
मनो गोपाल आये मेरे घर हँसि करि भुजा गही ।
कहा करों बैरिन भइ निंदिया निमिष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिंव देखिकै आनन्दी पिय जानि ।
'सूर' पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ॥३२०॥

मधुकर हम न होहिं वे बेली ।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुम रस केली ॥
बारे तें वलवीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी ।
बिन पिय परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित हानी ॥
ये बल्ली विहरत बृन्दावन अरुझीं स्याम तमालहिं ।
प्रेम पुष्प रज बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं ॥
जोग समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिग लागी ।
'सूर' पराग न तजत हिये तें कमलनयन अनुरागी ॥३२१॥

ऊधो विरही प्रेमु करै।
ज्यों विनु पुट पट गहै न रंगहि पुट गहि रसहि परै॥
जौ आँवों घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै॥
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तौ रवि रथहि सरै।
'सूर' गोपाल प्रेम-पथ चलतैं कोउ न दुखहि डरै॥३'२२॥

जोग ठगौरी ब्रज न विकैहै।
मूरी के पातनि के केना को मुक्ताहल दैहै॥
यह व्यौपार तुम्हारो ऊधो, ऐसे ही धरयो रैहै।
जिन पै तैं लै आए ऊधो तिनहिं के पेट समैहै॥
दाख छाँड़ि कै कटुक निवौरो, को अपने मुख खैहै।
गुन करि मोही 'सूर' साँवरे को निरगुन निरवैहै॥३'२३॥

स्याम सखी कारेहु मैं कारे।
तिनसौं प्रीति कहा कहि कीजै, मारग छाँड़ि सिधारे॥
लोक चतुरदस विभव कहत हैं, पदुमपत्र जल न्यारे।
सरवर त्यागि विहंग उड़े ज्यों फिरि पाछे न निहारे॥
अव चित चोरि भोरि बृजवासिनि प्रेम नेम व्रत टारे।
लै सरवस नहि मिले 'सूर' प्रभु, कहियत कुटिल विचारे॥३'२४॥

विरही कहँ लौं आपु सँभारै।
जव तें गंग परी हरि-पद तें, वहिवो नाहिं निवारै॥
नयनन तें रवि विछुरि भ्रंमत रहै, ससि अजहूँ तन गारै।
नाभि तें विछुरे कमल कंट भए सिंधु भए जरि छारै॥
वैन तें बिछुरी वानि अविधि भई बिधि ही कौन निवारै।
'सूरदास' सव अँग तें बिछुरो केहि विधा उपचारै॥३'२५॥

कहत कत परदेसी की वात।
मंदिर अरध अवधि वदि हमसों हरि अहार चलि जात॥
ससिरिपु वरस सूररिपु जुग बर, हररिपु किए फिरै घात।
मघपंचक लै गए स्यामघन, आय बनी यह बात॥

नखत बेद ग्रह जोरि अर्द्ध करि को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन को कर मीड़ति पछितात ॥२·२६॥

सँदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती करम करम करि न्हाते ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै ॥
अब यह 'सूर' मोहिं निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच ॥३·२७॥

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजनि की छाहीं ॥
वै सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनिमुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमँगत तन नाहीं ॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निवाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं ॥३·२८॥

ब्रज पर मँडर करत है काम।
कहियो पथिक स्याम सों राखैं, आइ आपनो धाम ॥
जलद कमान बारि दारू भरि, तड़ित पलीता देत।
गरजन अरु तड़पन मनु गोला, पहरक मैं गढ़ लेत ॥
लेहु लेहु सब करत वंदिजन कोकिल चातक मोर।
दादुर निकर करत जो टोवा, पल पल पै चहुँ ओर ॥
ऊधौ मधुप जसूस देखि गयो, टूट्यो धीरज पानि।
रखिबै होइ तौ आनि राखिये, 'सूर' लोक निज जानि ॥३·२९॥

बूझति है रुकुमिनि पिय इनमें को वृषभानु किसोरी।
नैकु हमें दिखरावहु अपनी बालापन की जोरी ॥
परम चतुर जिन कीन्हें मोहन, अल्प वैस ही थोरी।
बारे तें जिहि यहै पढ़ायौ, बुधि बल कल विधि चोरी ॥
जाके गुन गनि ग्रंथित माला, कबहुँ न उर तें छोरी।
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत उत मोरी ॥
वह लखि जुवतिबृंद मैं ठाढ़ी, नील वसन तन गोरी।
'सूरदास' मेरो मन वाकी चितवनि वंक हरचौ री ॥३·३०॥

: ४ :

रसखानि

मानुष हौं तौ वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‍यौ कर छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारन॥४·१॥

वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं।
रसखानि जवै इन नैनन तें ब्रज के बन-बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥४·२॥

बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरैं अरु पाइ वहा जु वही अनुजानी।
प्रान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यौं रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानी॥४·३॥

सेष गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सु बेद बतावैं।
नारद-से सुक ब्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥४·४॥

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन वेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि पर्‍यौ रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुंज-कुटीर मैं बैठो पलोटत राधिका-पायन॥४·५॥

भौंह भरी सुथरी बरुनी अति ही अधरानि रच्यौ रँग रातो।
कुंडल लोल कपोल महाछवि कुंजन तें निकस्यौ मुसकातो।
छूटि गयो रसखानि लखें उर भूलि गई तन की सुधि सातो।
फूटि गयो सिर तें दधि भाजन टूटि गो नैननि लाज को नातो॥४·६॥

कानन दै अँगुरी रहिवो जवहीं मुरली धुनि मंद वजैहै।
मोहनि तानन सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै।
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ सु कितो समुझैहै।
माई री वा मुख की मुसकानि सम्हारि न जैहै न जैहै न जैहै ।।४·७।।
कान्ह भए बस वाँसुरी के अव कौन सखी हमको चहिहै।
निस द्यौस रहै सँग साथ लगी यह सौतिन तापन क्यौं सहिहै।
जिन मोहि लियो मनमोहन कों रसखानि सदा हमको दहिहै।
'मिलि आओ सबै सखी' भागि चलैं अव तो ब्रज में वँसुरी रहिहै ।।४·८।।
उनहीं के सनेहन सानि रहैं उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनैं न औ बैन त्यौं सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं।
उनहीं सँग डोलन मैं रसखानि सबै सुखसिंधु अघानी रहैं।
उनहीं बिनु ज्यौं जलहीन ह्वै मीन-सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं ।।४·९।।
मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वारन संग फिरौंगी।
भावतो वोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहें सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी ।।४·१०।।

: ५ :

तुलसी

चित्रकूट प्रसंग

दो०—जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सिय राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान ॥५·१॥

चौ०—सखा वचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी।
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका ॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुवर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा ॥
सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला ॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे ॥
होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को ॥

दो०—प्रेम अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥५·२॥

चौ०—सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लखन सघन बन ओटा ॥
भरत दीख प्रभु आश्रम पावन। सकल सुमंगल सदन सुहावन ॥
करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथु पावा ॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे। पूँछे बचन कहत अनुरागे ॥
सीस जटा कटि मुनि पट बाँधे। तून कसे कर सरु धनु काँधे ॥
बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू ॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा ॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥

दो०—लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु ।
ग्यान सभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंदु ॥५·३॥

चौ०—सानुज सखा समेत मगन मन । बिसरे हरष सोक सुख दुख गन ॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं । भूतल परे लकुट की नाईं ॥
बचन सपेम लखन पहिचाने । करत प्रनामु भरत जियँ जाने ॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा । उत साहिब सेवा बस जोरा ॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई । सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा । भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥
उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥

दो०—बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥५·४॥

चौ०—मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी । कबिकुल अगम करम मन बानी ॥
परम पेय पूरन दोउ भाई । मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई । केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
अगम सनेह भरत रघुबर को । जँह न जाइ मनु बिधि हरि हर को ॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती । बाज सुराग कि गाँडर ताँती ॥
मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की । सुरगन सभय धकधकी धरकी ॥
समुझाए सुरगुरु जड़ जागे । बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥

दो०—मिलि सपेम रिपुसूदनहिं केवट भेंटेउ राम ।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम ॥५·५॥

चौ०—भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई । बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई ॥
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे । अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा । धरि सिर सिय पद पदुम परागा ॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए । सिर कर कमल परसि बैठाए ॥
सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं । मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥
सब बिधि सानुकूल लखि सीता । भे निसोच उर अपडर बीता ॥

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ॥
तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि। जोरि पानि विनवत प्रनामु करि ॥
दो०-नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए विकल वियोग ॥५६॥
चौ०-सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू ॥
चले सवेग राम तेहि काला। धीर धरमधुर दीनदयाला ॥
गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे ॥
मुनिवर धाइ लिए उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई ॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं ॥
दो०-जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥५७॥
चौ०-आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी ॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुखु दारुन दाहू ॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं ॥
मिलि केवटहि उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा ॥
देखी राम दुखित महतारीं। जनु सुबेलि अवलीं हिम मारीं ॥
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई ॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम विधि सिर धरि खोरी ॥
दो०-भेंटीं रघुवर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अंब ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु ॥५८॥
चौ०-गुरतिय पद बंदे दुहु भाई। सहित बिप्रतिय जे सँग आई ॥
गंग गौरि सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदु बानी ॥
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका ॥
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता ॥

अति अनुराग अंब उर लाए। नयन सनेह सलिल अन्हवाए ॥
तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कवि कहै मूक जिमि स्वादू ॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुर सन कहेउ कि धारिअ पाऊ ॥
पुरजन पाइ मुनीस नियागू। जल थल तकि तकि उतरेउ लोगू ॥

दो०—महिसुर मंत्री मातु गुर गने लोग लिए साथ।
पावन आश्रम गवनु किय भरत लखन रघुनाथ ॥५·९॥

चौ०—सीय आइ मुनिवर पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी ॥
गुरुपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली पेमु कहि जाइ न जेता ॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिर बचन लहे प्रिय जी के ॥
सासु सकल जब सीयँ निहारी। मूँदे नयन सहमि सुकुमारी ॥
परीं बधिक बस मनहुँ मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली ॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुखु पावा। सो सब सहिअ जो दैउ सहावा ॥
जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील नलिन लोयन भरि नीरा ॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥

दो०—लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।
हृदयँ असीसहिं प्रेम बस रहिअहु भरी सोहाग ॥५·१०॥

चौ०—बिकल सनेहँ सीय सब रानी। बैठन सबहि कहेउ गुर ग्यानी ॥
कहि जग गति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा ॥
नृप कर सुरपुर गवनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा ॥
मरन हेतु निज नेहु बिचारी। भे अति बिकल धीर धुर धारी ॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी ॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राजु अकाजेउ आजू ॥
मुनिबर बहुरि राम समुझाए। सहित समाज सुसरित नहाए ॥
ब्रतु निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहें जलु काहुँ न लीन्हा ॥

दो०—भोरु भएँ रघुनंदनहि जो मुनि आयसु दीन्ह।
श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सबु सादरु कीन्ह ॥५·११॥

चौ०—करि पितु क्रिया बेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक-तम-तरनी ॥
जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला ॥

सुद्ध सो भयउ साधु संमत अस। तीरथ आवाहन सुरसरि जस।
सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते। बोले गुर सन राम पिरीते॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद मूल फल अंबु अहारी॥
सानुज भरतु सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥
सब समेत पुर धारिअ पाऊ। आप इहाँ अमरावति राऊ॥
बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिअ गोसाँईं॥

दो०—धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ विश्राम॥५·१२॥

चौ०—राम वचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ विकल जहाजू॥
सुनि सुर गिरा सुमंगल मूला। भयउ मनहुँ मारुत अनुकूला॥
पावन पयँ तिहुँ काल नहाहीं। जो विलोकि अघ ओघ नसाहीं॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि॥
राम सैल बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं॥
झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी॥
बिटप वेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि वन छवि केहि पाहीं॥

दो०—सरनि सरोरुह जल विहग कूजत गुंजत भृङ्ग।
वैर विगत बिहरत बिपिन मृग विहंग बहुरंग॥५·१३॥

चौ०—कोल किरात भिल्ल वनवासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी॥
भरि भरि परन पुटीं रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥
सबहि देहिं करि विनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥
कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु पेम पहिचानी॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥
हमहि अगम अति दरसु तुम्हारा। जस मरु धर न देवधुनि धारा॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा॥

दो०—यह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु।
हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु॥५·१४॥

चौ०—तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोग न भाग हमारे॥
देव काह हम तुम्हहि गोसाँई। ईंधनु पात किरात मिताई॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ॥
जब तें प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्ह के भाग सराहन लागे॥

छन्द—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय राम चरन सनेहु लखि सुखु पावहीं॥
नर नारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंसमनि की लोह लै लौका तिरा॥५'१५॥

सो०—बिहरहिं बन चहु ओर प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर भए पीन पावस प्रथम॥४'१६॥

चौ०—पुरनर नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती॥
सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥
लखा न मरम राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥
सीयँ सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥
लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥
लोकहुँ बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थलु नरक न लहहीं॥
यहु संसउ सबके मन माहीं। राम गवन बिधि अवध कि नाहीं॥

दो०—निसि न नीद नहिं भूख दिन भरतु बिकल सुचि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच॥५'१७॥

चौ०—कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली॥
केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥
अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥
मातु कहेहुँ बहुरहिं रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥

मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥
जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठए रिषयँ बोलाई॥

दो०—गुर पद कमल प्रनामु करि बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आइ॥५१८॥

चौ०—बोले मुनिबरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥
सत्यसंध पालक श्रुति सेतू। राम जनमु जग मंगल हेतू॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही कें॥

दो०—राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥५१९॥

चौ०—सब कहुँ सुखद राम अभिषेकू। मंगल मोद मूल मग एकू॥
केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिअ उपाऊ॥
सब सादर सुनि मुनिबर बानी। नय परमारथ स्वारथ सानी॥
उतरु न आव लोग भए भोरे। तब सिरु नाइ भरत कर जोरे॥
भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे॥
जनम हेतु सबकहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना अस असीस राउरि जगु जाना॥
सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥

दो०—बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु॥५२०॥

चौ०—तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥
सुनि सुवचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥
मन प्रसन्न तन तेजु बिराजा। जनु जिये राउ रामु भए राजा॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी॥
कहहिं भरतु मुनि कहा सो कीन्हें। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हें॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

दो०—अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रमान॥५·२१॥

चौ०—भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भए बिदेहू॥
भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥
औरु करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई॥
भरतु मुनिहि मन भीतर भाए। सहित समाज राम पहिं आए॥
प्रभु प्रनामु करि दीन्ह सुआसनु। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासनु॥
बोले मुनिबरु बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी॥
सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम नीति गुन ग्यान निधाना॥

दो०—सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥५·२२॥

चौ०—आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ॥
सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथे मानि करौं सिख सोई॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति घटिहि सेवकाई॥
कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेहँ बिचारु न राखा॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥
मोरें जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥

दो०—भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥५·२३॥

चौ०--गुर अनुरागु भरत पर देखी। राम हृदयँ आनदु विसेषी ॥
भरतहि धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी ॥
बोले गुर आयस अनुकूला। वचन मंजु मृदु मंगलमूला ॥
नाथ सपथ पितु चरन दाहाई। भयउ न भुअन भरत सम भाई ॥
जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी ॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू ॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत वदन पर भरत बड़ाई ॥
भरतु कहहिँ सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई ॥

दो०--तव मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात ॥५·२४॥

चौ०--सुनि मुनि वचन राम रुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई ॥
लखि अपने सिर सबु छरु भारू। कहि न सकहिँ कछु करहिँ विचारू ॥
पुलकि सरीर सभा भए ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े ॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा ॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥
मो पर कृपा सनेहु विसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी ॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिँ मोही ॥

दो०--महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन ॥५·२५॥

चौ०--बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा ॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा ॥
मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली ॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली ॥
सपनेहुँ दोसक लेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥
बिनु समुझें निज अघ परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू ॥
हृदयँ हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥
गुर गोसाइँ साहिब सिय रामू। लागत मोहि नीक परिनामू ॥

दो०—साधु सभाँ गुर प्रभु निकट कहउँ सुथल सति भाउ।
प्रेम प्रपंचु कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ॥५·२६॥

चौ०—भूपति मरन पेम पन राखी। जननी कुमति जगतु सबु साखी॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर नर नारी॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला॥
सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखन सिय साथा॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ। संकरु साखि रहेउँ एहिं घाएँ।
बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥
अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सबइ सहाई॥
जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥

दो०—तेइ रघुनन्दन लखनु सिय अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख दैव सहावइ काहि॥५·२७॥

चौ०—सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति बिनय नय सानी॥
सोक मगन सब सभाँ खभारू। मनहुँ कमल बन परेउ तुसारू॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोधु कीन्ह मुनि ग्यानी॥
बोले उचित बचन रघुनन्दू। दिनकर कुल कैरव बन चन्दू॥
तात जायँ जियँ करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी॥
तीनि काल तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥

दो०—मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥५·२८॥

चौ०—कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥
तात कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ॥
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना॥
तात तुम्हहि मैं जानउँ नीकें। करौं काह असमंजस जीकें॥
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥

दो०—मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुवर वचन सुनि भा सुखी समाजु ॥५·२९॥

चौ०—सुरगन सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू ॥
बनत उपाउ करत कछु नाहीं। राम सरन सब गे मन माहीं ॥
बहुरि विचारि परस्पर कहहीं। रघुपति भगत भगति वस अहहीं ॥
सुधि करि अंबरीष दुरवासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा ॥
सहे सुरन्ह बहु काल विषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा ॥
लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा ॥
आन उपाय न देखिअ देवा। मानत रामु सुसेवक सेवा ॥
हियँ सपेम सुमिरहु सब भरतहि। निज गुन सील राम वस करतहि ॥

दो०—सुनि सुरमत सुरगुर कहेउ भल तुम्हार बड़ भागु।
सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु ॥५·३०॥

चौ०—सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई ॥
भरत भगति तुम्हरें मन आई। तजहु सोचु विधि बात बनाई ॥
देखु देवपति भरत प्रभाऊ। सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ ॥
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहि जानि राम परिछाहीं ॥
सुनि सुरगुर सुर संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सँकोचू ॥
निज सिर भारु भरत जियँ जाना। करत कोटि विधि उर अनुमाना ॥
करि विचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायस आपन नीका ॥
निज पन तजि राखेउ पनु मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब विधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरि जलज जुग हाथ ॥५·३१॥

चौ०—कहौं कहावौं का अब स्वामी। कृपा अम्बुनिधि अन्तरजामी ॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला ॥
अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रविहि न दोसु देव दिसि भूलें ॥
मोर अभागु मातु कुटिलाई। विधि गति विषम काल कठिनाई ॥

पाउ रोपि सब मिलि मोहिं घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहूँ बेद बिदित नहिं गोई॥
जगु अनभल भल एकु गोसाँई। कहिअ होइ भल कासु भलाई॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥

दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच॥५·३२॥

चौ०—लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥
स्वारथु नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥
यह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥
देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥
तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥

दो०—सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥५·३३॥

गीतावली

पालने रघुपतिहिं झुलावै।
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै॥
केकिकंठ दुति स्यामबरन बपु, बालबिभूषण बिरचि बनाए।
अलकैं कुटिल, ललित लटकन भ्रू नील नलिन दोउ नयन सुहाए॥
सिसु-सुभाय सोहत जब कर गहि बदन निकट पदपल्लव लाए।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि लेत सुधा ससि सों सचु पाए॥
उपर अनूप बिलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधुभय बिनय करत अति आरत॥
तुलसीदास बहु बास बिबस अलि गुंजत सुछबि न जाति बखानी।
मनहुँ सकल स्रुतिरिचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बर बानी॥५·३४॥

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषारितु प्रवेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत॥
चहुँदिसि बन संपन्न विहँग-मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज विराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि॥
सिखर परस घन-घटहि मिलति बग-पाँति सो छबि कवि बरनी।
आदि बराह बिहरि वारिधि मनो उठचो है दसन धरि धरनी॥
जलजुत विमल सिलनि झलकत नभ वन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना विचित्र बिलसति बिराट अँग-अंग॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत-सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे॥५·३५॥
राघौ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरौ बनहिं सिधावौ॥
जे पय प्याइ, पोखि कर-पंकज, वार वार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहि दिन होत झाँवरे, मनहुँ कमल हिम-मारे॥
सुनहु पथिक! जो राम मिलहिं बन, कहियो मात-सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इन्हको बड़ो अँदेसो॥५·३६॥
तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि! जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न॥
लोचन नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन-कोन।
'हा धुनि' खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन॥
जेहि बाटिका बसति, तहँ खग-मृग तजि-तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास समीर भेंट भइ भोरेहु, तेहिं मग पगु न धरचो तिहुँ पौन॥
तुलसीदास प्रभु! दसा सीय की, मुख करि कहत होति अति गौन।
दीजै दरस, दूरि कीजै दुख, हौ तुम्ह आरत-आरति-दौन॥५·३७॥

जो हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चन्द्रमहिं निचोरि चैल-ज्यों, आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत-कुंड महिं लावौं।
भेदि भुवन, करि भानु वाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
विबुध-वृंद बरवस आनौं धरि, तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यों, सवहि को पापु वहावौं॥
तुम्हरिहिं कृपा, प्रताप तिहारेहि नेकु विलंव न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी-प्रभु, जेहि तुम्हरे मन भावौं॥५३८॥

कवितावली

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि-सी रही जे न ठगे धिक-से।
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन जातक-से।
सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह-से विकसे॥५३९॥

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥
दमकैं दतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल-विनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में विहरैं॥५४०॥

दूलह श्रीरघुनाथ वने दुलही सिय सुंदरी मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बेदजुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥५४१॥

बालधी विसाल विकराल ज्वाला-जाल मनौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि-सी उघारी है।
तुलसो सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप,
केधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।

देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
"कानन उजारचौ अब नगर प्रजारी है" ॥५४२॥

रावन सो राजरोग बाढ़त विराट-उर,
दिन दिन विकल सकल-सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसोक, ओत पावै न मनाक सो।
राम की रजाय तें रसायनी समीर-सूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाँक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ॥५४३॥

ओझरी की झोरी काँधे आँतनि की सेल्हो बाँधे,
मूँड़ के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी-सी,
तीर तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि कै।
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥५४४॥

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोचबस,
कहैं एक एकन सों, "कहाँ जाई, का करी ?"।
बेदहू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी ॥५४५॥

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।

तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।
माँगि कै खैवो मसीत को सोइवो लैबे को एक न दैबे को दोऊ ॥५४६॥

विनय-पत्रिका

कबहुँक अंब अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्यायबी कछु करुन-कथा चलाइ ॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासीदास कहाइ ॥
बूझिहैं सो है कौन कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥
जानकी जग-जननी जन की किए बचन सहाइ ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ गुनगन गाइ ॥५४७॥
ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की ॥
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होत लोचन की ॥
ज्यों गच काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहारवस छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु लाज निज पन की ॥५४८॥
हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधनधाम बिबुध-दुर्लभ तनु मोहिं कृपा करि दीन्हों ॥
कोटिहुँ मुख कहि जायँ न प्रभु के एक एक उपकार ।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार ॥
विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
कृपा-डोरि बंसी पद-अंकुस परम प्रेम मृदु-चारो ।
यहि बिधि बेगि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥
हैं स्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै ॥५४९॥

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु विनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न, मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे ॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकररूप तेहि नाहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥५·५०॥

ऐसो को उदार जग माहीं ?
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ काहीं ॥
जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं ।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम काम सब पूरन करै कृपानिधि तेरो ॥५·५१॥

: ६ :

केशव

गणेश-वन्दना

(मनहरण-छन्द)

बालक मृणालनि ज्यों तोरि डारै सब काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को।
विपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुख को।
दूरि कै कलंक अंक भवशीश शशि सम,
राखत हैं केशोदास दास के वपुख को।
साँकरे की साँकरन सनमुख होत तोरै,
दशमुख मुख जोवैं गजमुख मुख को।।६·१।।

सरस्वती-वन्दना

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय,
ऐसी मति कहो धौं उदार कौन को भयी।
देवता, प्रसिद्ध, सिद्ध ऋषिराज तपवृद्ध,
कहि कहि हारे सब, कहि न केहूं लयी।
भावी, भूत, वर्तमान जगत बखानत है,
केशोदास केहूं न बखानी काहू पै गयी।
वर्णे पति चारि मुख, पूत वर्णे पांच मुख,
नाती वर्णे षट मुख, तदपि नयी नयी।।६·२।।

राम-वन्दना

पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परि-
पूरण बतावैं न बतावैं और उक्ति को।
दरसन देत, जिन्हें दरसन समुझैं न,
'नेति नेति' कहै बेद छाँड़ि आन युक्ति को।
जानि यह केशोदास अनुदिन राम राम,
रटत रहत न डरत पुनरुक्ति को।
रूप देहि अणिमाहि, गुण देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि, नाम देहि मुक्ति को ॥६४॥

वन-यात्रा

(द्रुत विलंबित छन्द)

विपिन-मारग राम विराजहीं।
सुखद सुंदरि सोदर भ्राजहीं।
विविध श्रीफल सिद्धि मनो फल्यो।
सकल साधन सिद्धहि लै चल्यो ॥६५॥

दो०—राम चलत सब पुर चल्यो, जहँ तहँ सहित उछाह।
मनौं भगीरथ-पथ चल्यो, भागीरथी-प्रवाह ॥६७॥

चंचला छन्द

रामचंद्र धाम ते चले सुने जबै नृपाल।
बात को कहै सुनै, सो ह्वै गये महा विहाल।
ब्रह्मरंध्र फोरि जीव यौं मिल्यो द्युलोक जाइ।
गेह चूरि ज्यौं चकोर चन्द्रमैं मिलै उड़ाइ ॥६८॥

चंचरी छन्द

कौन हौ, कित तें चले, कित जात हौ, केहि काम जू।
कौन की दुहिता, बहू, है कौन को यह वाम जू॥
एक गाँउँ रहौ कि साजन मित्र बंधु बखानिए।
देश के, परदेश के, किधौं पंथ को पहिचानिए ॥६९॥

जगमोहन दंडक छन्द

किधौं यह राजपुत्री, वरहीं वर्‌यो है किधौं,
उपटि वर्‌यो है यहि सोभा अभिरत हौ।
किधौं रति रतिनाथ जस साथ केसौदास,
जात तपोवन सिव वैर सुमिरत हौ।
किधौं मुनि शापहत, किधौं ब्रह्मदोषरत,
किधौं सिद्धियुत, सिद्ध परम विरत हौ।
किधौं कोऊ ठग हौ ठगोरी लीन्हें, किधौं तुम
हरि हर श्री हौ शिवा चाहत फिरत हौ ॥६·१०॥

(मत्त मातंग लीलाकरन दण्डक)

मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी
रूप रूरे लसैं देहधारी मनौ।
भूरि भागीरथी भारती हंसजा
अंस के हैं मनौ भाग भारे मनौ।
देवराजा लिये देवरानी मनौ
पुत्र संयुक्त भू-लोक में सोहिए।
पच्छ दू संधि संध्या सधो है मनौ
लच्छि ये स्वच्छ प्रत्यक्ष ही मोहिए ॥६·११॥

(अनंग शेखर दण्डक)

तड़ाग नीर-हीन ते समीर होत कैसौदास
पुण्डरीक झुण्ड भौंर मंडलीन मंडहीं।
तमाल वल्लरी समेत सूखि सूखि के रहे
ते वाग फूलि-फूलि कै समूल सूल खंडहीं॥
चितै चकोरनी चकोर, मोर मोरनी समेत
हंस हंसिनी समेत, सारिका सवै पढ़ै।
जहीं जहीं विराम लेत रामजू तहीं तहीं
अनेक भाँति के अनेक भोग भाग सों वढ़ै ॥६·१२॥

(सुन्दरी छन्द)

घाम को राम समीप महाबल।
सीतहिं लागत है अति सीतल ॥
ज्यों घन संयुत दामिनि के तन।
होत हैं पूषन के कर भूषन ॥६·१३॥

मारग की रज तापित है अति।
केशव सीतहि सीतल लागति ॥
ज्यौं पद-पंकज ऊपर पाँयनि।
दै जो चलैं तेहि ते सुखदायनि ॥६·१४॥

दोहा—प्रति पुर औ प्रति ग्राम की, प्रति नगरन की नारि।
सीताजू को देखिकै, बरनत हैं सुखकारि ॥६·१५॥

(जगमोहन दण्डक)

वासों मृग अंक कहैं, तोसों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर, तुहूं सुधाधर मानिए।
वह द्विजराय, तेरे द्विजराजि राजैं, वह—
कलानिधि, तुहूं कला कलित बखानिए।
रत्नाकर के हैं दोऊ केसव प्रकास कर,
अंबर विलास कुवलय हित मानिए।
वाके अति सीत कर, तुहूं सीता सीतकर,
चंद्रमा सी चंद्रमुखी सब जग जानिए ॥६·१६॥

कलित कलंक केतु, केतु अरि सेत गात,
भोग योग को अयोग, रोग ही को थल सो।
पून्यौई को पूरन पै प्रतिदिन दूनो दूनो,
छन छन छीन होत छीलर को जल सो ॥
चंद्र सो जो बरनत रामचंद्र की दुहाई,
सोई मतिमंद कवि केसव कुसल सो।
सुंदर सुवास अरु कोमल अमल अति,
सीताजू को मुख सखि केवल कमल सो ॥६·१७॥

एके कहैं अमल कमल मुख सीताजू को
एके कहैं—चन्द्र सम आनन्द को कंद री।
होइ जौ कमल तौ रयनि में न सकुचै री
चन्द जौ तौ वासर न होइ द्युति मन्द री।
वासर ही कमल रजनि ही में चन्द्र मुख
बासर हू रजनि विराजै जगवंद री।
देखे मुख भावै अनदेखेई कमल चन्द
तातै मुख मुखै, सखी, कमलौ न चन्द री ॥६·१८॥

दोहा—सीता नयन चकोर सखि, रविवंशी रघुनाथ।
रामचन्द्र सिय कमल मुख भलो बन्यो है साथ ॥६·१९॥

(विजय छन्द)

वहु बाग तड़ाग तरंगनि तीर
तमाल की छांह विलोकि भली।
घटिका इक बैठत हैं सुख पाय
बिछाय तहाँ कुस कास थली॥
मग कौ श्रम श्रीपति दूरि करै
सिय के सुभ वालक अंचल सौं।
श्रम तेऊ हरैं तिनकौ कहि केशव
चंचल चारु दृगंचल सौं॥६·२०॥

सोर०—श्री रघुवर के इष्ट, अश्रु बलित सीता नयन।
साँचो करी अदृष्ट, झूँठो उपमा मीन की॥६·२१॥

दो०—मारग यौं रघुनाथ जू, दुख सुख सबही देत।
चित्रकूट पर्वत गये, सोदर सिया समेत॥६·२२॥

पंचवटी-वन-वर्णन

(त्रिभंगी छन्द)

फल फूलन पूरे, तरुवर रूरे कोकिल-कुल कलरव बोलें।
अति मत्त मयूरी प्रियरस पूरी, वन वन प्रति नाचति डोलें॥
सारी शुक पंडित, गुणगण-मंडित, भावनि मैं अरथ बखाने।
देखे रघुनायक, सीय सहायक, मदन सुरति मधु सब जाने॥६·२३॥

(सवैया)

लक्ष्मण—सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटो रुचि मीच घटीहूँ घटी, जग जीव यतीन की छूटी तटी॥
अघ ओघ की बेरी कटी विकटी, निकटी प्रकटी गुरुज्ञान गटी।
चहुँ ओरन नाचति मुक्तिनटी, गुण धूरजटी वनपंचवटी॥६·२४॥

(हाकलिका छन्द)

शोभत दंडक की रुचि बनी। भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी॥
सेव बड़े नृप को जनु लसै। श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै॥
नैनन को बहुरूपन ग्रसै। श्रीहरि की जनु मूरति लसै॥६·२५॥

(दोधक छन्द)

राम—पांडव की प्रतिमा सम लेखौ।
अर्जुन भीम महामति देखौ॥
है सुभगा सम दीपति पूरी।
सिंदुर की तिलकावलि रूरी॥६·२६॥
राजति है यह ज्यौं कुलकन्या।
धाइ विराजति है सँग धन्या॥
केली-थली जनु श्री गिरिजा की।
शोभ धरे सितकण्ठ प्रभा की॥६·२७॥

रावण-अंगद-संवाद

दोहा—अंगद कूदि गये जहाँ, आसन गत लंकेस।
मनु मधुकर करहाट पर, शोभित श्यामल देस॥६·२८॥

(नाराच छन्द)

प्रतिहार—पढ़ो विरंचि! मौन बेद, जीव! सोर छंडि रे।
कुबेर! बेर कै कही, न यच्छ भीर मंडि रे॥
दिनेस! जाइ दूरि बैठु नारदादि संगही।
न बोलु चन्द! मन्दबुद्धि इंद्र की सभा नहीं॥६·२९॥

चित्रपदा छन्द

अंगद यौं सुनि बानी। चित्त महारिस आनी ॥
ठेलि कै लोग अनैसे। जाइ सभा महँ बैसे ॥६·३०॥

रावण—'कौन हो पठये सो कौने, ह्याँ तुम्हैं कह काम है ?
अंगद—'जाति बानर, लंकनायक दूत, अंगद नाम है।'
'कौन है वह बाँधि कै हम देह पूछि सबै दही' ?
'लंक जारि सँहारि अच्छ गयो सो बात वृथा कही' ॥६·३१॥
'कौन के सुत ?' 'बालि के'. 'वह कौन बालि', न जानिए ?
'काँख चापि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए' ॥
'है कहाँ वह वीर ?' 'अंगद, देवलोक बताइयो'
'क्यों गयो ?' 'रघुनाथ-बान-बिमान बैठि सिधाइयो' ॥६·३२॥
'लंकनायक को ?' विभीषण, देव-दूषण को दहै' ?
मोहि जीवत होहि को ?' 'जग तोहि जीवत को कहै' ?
'मोहि को जग मारिहै ? 'दुर्बुद्धि तेरिय जानिए'।
'कौन बात पठाइयो कहि वीर बेगि बखानिए ॥६·३३॥

सवैया

अंगद—श्री रघुनाथ कौ वानर केसव आयौ हो एकु, न काहू हयौ जू।
सागर को मद झारि, चिकारि त्रिकूट के देह बिहार छयौ जू ॥
सीय निहारि सँहारि कै राच्छस सोक असोक बनीहि दयौ जू।
अच्छकुमारहिं मारि कै लंकहि जारि कै, नीकेहि जात भयौ जू ॥६·३४

गंगोदक छन्द

राम राजान के राज आये इहाँ
धाम तेरे महाभाग जागे अबै।
देवि मंदोदरी कुंभकरणादि दै
मित्र मन्त्री जिते पूँछि देखौ सबै ॥
राखिजै जाति कौं, भाँति कों वंश कों
साधिजै लोक मैं लोक परलोक कों।
आनि कै पाँ परी देस लै, कोस लै
आसुही ईस सीता चलैं ओक कों ॥६·३५॥

रावण—लोक लोकेस स्यौं सोचि ब्रह्मा रचे,
आपनी आपनी सींव सो सो रहै।
चारि बाहैं धरे विष्णु रक्षा करैं;
बात साँची यहै वेदवाणी कहै,
ताहि भ्रू भंग ही देव देवेस स्यौं-
विष्णु ब्रह्मादि दै रुद्रजू संहरै।
ताहि हौं छाँड़ि कै पायँ काके परों,
आजु संसार तो पायँ मेरै परै ॥६·३६॥

मदिरा छन्द

'राम कौ काम कहा ?' 'रिपु जीतहिं'
'कौन कबै रिपु जीत्यौ कहाँ ?'
'वालि बली', 'छल सों', 'भृगुनन्दन
गर्व हर्‌यो', 'द्विज दीन महा।।'
'दीन सो क्यौं ? छिति छत्र हत्यौ
विन प्राणनि हैहयराज कियो।'
'हैहय कौन ?' 'वहै, बिसर्‌यो ? जिन
खेलत ही तुम्हैं बाँधि लियो' ॥६·३७॥

विजय छन्द

अंगद—सिन्धु तर्‌यो उनको बनरा, तुम पै धनुरेख गई न तरी।
बाँध्योइ बाँधत सो न बँध्यो, उन बारिधि बाँधि कै बाट करी ॥
अजहूं रघुनाथ-प्रताप की बात, तुम्हैं दसकंठ न जानि परी।
तेलनि तूलनि पूँछि जरी न जरी गढ़ लंक जराइ जरी ॥६·३८॥

रावण—नील सुखेन हनू उनके, नल और सबै कपि पुंज तिहारे।
आठहु आठ दिसा बलि दै, अपनो पदु लै पितु जा लगि मारे ॥
तोसें सपूतहि जाइकै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे।
अंगद संग लै मेरौ सबै दल, आजुहिं क्यों न हतै बपमारे ॥६·३९॥

दोहा—जो सुत अपने बाप को, बैर न लेइ प्रकास।
तासों जीवत ही मर्‌यो, लौक कहैं तजि त्रास ॥६·४०॥

अंगद—इनको बिलगु न मानिए, सुनि रावन पल आधु।
पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु ॥६४१॥

द्रुत विलम्बित छन्द

रावण—उरसि अंगद लाज कछू गहौ। जनकघातक बात वृथा कहौ।
सहित लक्ष्मण रामहिं संहरौं। सकल बानरराज तुम्हें करौं ॥६४२॥

निशिपालिका छन्द

अंगद—सत्रु, सम, मित्र हम चित्त पहिचानहीं।
दूत विधि नूत कबहूं न उर आनहीं॥
आप मुख देखि अभिलाष अभिलाषहू।
राखि भुज सीस, तब और कहँ राखहू ॥६४३॥

भुजंगप्रयात छन्द

रावण—महामीचु दासी सदा पाइँ धोवै।
प्रतीहार ह्वै के कृपा सूर जोवै॥
छपानाथ लीन्हें रहै छत्र जाको।
करैगो कहा सत्रु सुग्रीव ताको॥
सका मेघमाला, सिखी पाककारी।
करै कोतवाली महादंडधारी॥
पढ़ै बेद ब्रह्मा सदा द्वार जाको।
कहा बापुरो सत्रु सुग्रीव ताको ॥६४४॥

विलय छन्द

अंगद—पेट चढ्यो, पलना पलिको चढ़ि,
पालकि हू चढ़ि मोह मढ़्यो रे।
चौक चढ़्यो चित्रसारी चढ़्यो,
गजबाजि चढ़्यो, गढ़ गर्व चढ़्यो रे॥
व्योम विमान चढ़्योई रह्यो,
कहि केशव सो कबहूं न पढ़्यो रे।
चेतत नाहीं रह्यो चढ़ि चित्त सों,
चाहत मूढ़ चिताहू चढ़्यो रे ॥६४५॥

भुजंगप्रयात छन्द

रावण—निकारयो जो भैया, लियो राज जाको ।
दियो काढ़िकै जू कहा त्रात ताको ॥
लिए बानराली कहौं बात तोसों ।
सो कैसे लरै राम संग्राम मोसों ॥६·४६॥

विजय छन्द

अंगद—हाथी न, साथी न, घोरे न, चेरे न गाउँ न ठाउँ को ठाउँ बिलैहै ।
तात न मात, न पुत्र, न मित्र, न वित्त, न तीय कही संग रैहै ॥
केशव काम को राम बिसारत और निकाम न कामहिं ऐहै ।
चेति रे चेति अजौं चित अन्तर, अन्तकलोक अकेलोई जैहै ॥६·४७॥

भुजंगप्रयात छन्द

रावण—डरै गाय विप्रै, अनाथै जो भाजै ।
परद्रव्य छाँड़े परस्त्रीहिं लाजै ॥
पर द्रोह जासों न होवै रती को ।
सु कैसे लरै वेष कीन्हें यती को ॥६·४८॥
दोहा—गेंद करेउँ मैं खेल को हरगिरि केसौदास ।
शीश चढ़ाए आपने, कमल समान सहास ॥६·४९॥

दण्डक

अंगद—जैसो तुम कहत उठायो एक गिरिवर,
ऐसे कोटि कपिन के बालक उठावहीं ।
काटे जो कहत सीस, काटत घनेरे घाघ,
मगर के खेले कहा भट पद पावही ॥
जीत्यो जो सुरेस को साप ऋषि नारि ही को,
समुझहु हम द्विज नाते समुझावहीं ।
गहौ राम पाँय, सुख पाइ करैं तपी तप,
सीताजू कों देहु, देव दुंदुभी बजावहीं ॥६·५०॥

बंशस्थ छन्द

रावण—तपी जपी विप्रनि छिप्र ही हरौं।
अदेव द्वेषी सब देव संहरौं।
सिया न दैहौं, यह नेम जी धरौं।
अमानुषी भूमि अवानरी करौं ।।६·५१।।

विजय छन्द

अंगद—पाहन तैं पतिनी करि पावन टूक कियो हर को धनु को रे ?
छत्र विहीन करी छन मैं छिति गर्व हरे तिनके बल को रे ?
पर्वत पुंज पुरैनि के पात समान तरे, अजहूं धर को रे ?
होइँ नरायन हूं पै न ये गुन, कौन इहाँ नर बानर को रे ? ।।६·५२।।

चंचरीक छन्द

रावण—देहिं अंगद राज तोकहँ, मारि बानरराज को।
बाँधि देहिं विभीषनै अरु फोरि सेतु-समाज को ।।
पूँछ जारहिं अच्छरिपु की, पाइँ लागहिं रुद्र के।
सीय को तब देहुँ रामहिं, पार जाइँ समुद्र के ।।६·५३।।

अंगद—लंक लाइ गयौ बली हनुमंत, संतन गाइयो।
सिंधु बाँधत सोधि कै नल छीर छीट बहाइयो ।।
ताहि तोहिं समेत अंध, उखारि हौं उलटी करौं।
आजु राज कहाँ विभीषण बैठिहैं, तेहि तै डरौं ।।६·५४।।

दोहा—अंगद रावन को मुकुट, लेकरि उड़यो सुजान।
मनो चल्यौ यमलोक को, दससिर को प्रस्थान ।।६·५५।।
अंगद लै वा मुकुट को, परे राम के पाइ।
राम विभीषन के सिरसि, भूषित कियो बनाइ ।।६·५६।।

●

: ७ :

बिहारी

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाइं परें, स्याम हरित दुति होय ॥७·१॥

फिरि फिरि चित उत ही रहत, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छबि-झौंर में, भयौ भौंर की नाव ॥७·२॥

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननि ही सों बात ॥७·३॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥७·४॥

रससिंगार मंजन किए, कंजन-भंजन दैन।
अंजन-रंजनहूं बिना, खंजन गंजन नैन ॥७·५॥

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह ॥७·६॥

कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाति कितहूँ गुड़ी, तऊ उड़ायक-हाथ ॥७·६॥

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात ॥७·८॥

कौन सुनै कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यो लेत हैं, ये बदरा बदराह ॥७·९॥

अंग अंग नग जगमगै, दीपसिखा-सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूं रहै, बड़ो उजेरो गेह ॥७·१०॥

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोवन अंग।
दीपति देह दुहूँनि मिलि, दिपति ताफता रंग ॥७११॥
तंत्री-नाद कवित्त-रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥७१२॥
नैंक न झरसी बिरह-जर, नेह-लता कुम्हिलाति।
नित नित होति हरी हरी खरी झालरति जाति ॥७१३॥
खौरि-पनच भृकुटी-धनुष, बधिक-समर तजि कानि।
हनत तरुन-मृग तिलक-सर, सुरक भाल भरि तानि ॥७१४॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिँ कोय।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जल होय ॥७१५॥
करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीचु।
दीनेहूँ चसमा चखनि, चाहै लहै न मीचु ॥७१६॥
आवत जात न जानियत, तेजहिं तजि सियरान।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस-दिन-मान ॥७१७॥
गिरि तें ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन कौं, प्रेम-पयोधि पगार ॥७१८॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार ॥७१९॥
आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की रीति।
साहस ककै सनेहबस, सखी सबै ढिग जाति ॥७२०॥
स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु विहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि, तू पच्छीन न मारि ॥७२१॥
तीज परब सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करीं, वहै मरगजे चीर ॥७२२॥
सहज सेत पँचतोरिया, पहिरत अति छबि होति।
जल-चादर के दीप लौं, जगमगाति तनजोति ॥७२३॥

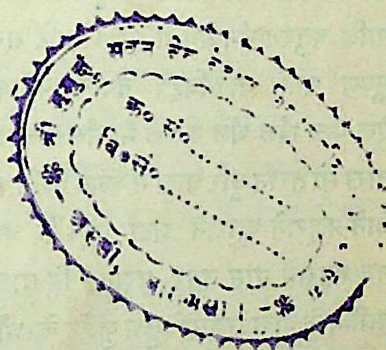
लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥७·२४॥
तिय कित कमनैती पढ़ी, विनु जिह भौंह-कमान।
चलचित-बेझो चुकति नहिं, बँक बिलोकनि-बान ॥७·२५॥
दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियें, दई नई यह रीति ॥७·२६॥
रनित भृंग-घंटावली, झरित-दान-मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर-कुंज-समीर ॥७·२७॥
त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख-तृषा बुझाय ॥७·२८॥
मोर मुकुट की चंद्रकनि, यौं राजत नँदनंद।
मनु ससि-सेखर की अकस, किय सेखर सतचंद ॥७·२९॥
अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष-रँग होति ॥७·३०॥
बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाय ॥७·३१॥
कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥७·३२॥
छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधवी-गंध।
ठौर ठौर झूमत झँपत, भौंर-झौंर मधु-अंध ॥७·३३॥
बिरह बिकल बिनहीं लिखी, पाती दई पठाय।
आँक-बिहीनीयौ सुचित, सूने बाँचत जाय ॥७·३४॥
छिप्यौ छबीलो मुख लसै, नीले आँचल चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ॥७·३५॥
तावक-सर से लाय कै, तिलक तरुनि इत ताकि।
पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥७·३६॥

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहुँ सुरसरिता बिमल, जल उछरत जुग मीन ॥७३७॥

चिरजीवी जोरे जुरे, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥७३८॥

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥७३९॥

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतप परचो प्रभात ॥७४०॥



: ८ :

भूषण

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर दावा नाग-जूह पर सिंह-सिरताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को।
भूषण अखंड नवखंड महिमंडल मैं तम पर दावा रवि-किरन-समाज को।
पूरब पछाँह देस दच्छिन तैं उत्तर लौं जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को ॥८·१॥
बारिधि के कुंभभव घन बन दावानल तिमिर पै तरनि को किरन-समाज हौ।
कंस के कन्हैया कामदेवहू के नीलकंठ कैटभ के कालिका विहंगम के बाज हौ।
भूषण भनत सबै असुर के इंद्र पुनि पन्नग के कुल के प्रबल पच्छिराज हौ।
रावन के राम कार्तवीर्ज के परसुराम दिल्लीपति दिग्गज के सिंह सिवराज हौ ॥८·२॥
साजि चतुरंग-सैन अंग मैं उमंग धारि सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषण भनत नाद-बिहद नगारन के नदीनद मद गैंबरन के रलत है।
ऐल फैल खैल भैल खलक मैं गैल-गैल गजन की ठेल पेल सैल उलसत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि थारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥८·३॥
बाने फहराने घहराने घंटा गजन के नाहीं ठहराने रावराने देस-देस के।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे, केरा के-से पात बिहराने फन सेस के ॥८·४॥
जिन फन फुतकार उड़त पहार भारे कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
विष-जाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो।
कीन्हों जेहि पान पयपान सो जहान कुल कोलहू उछलि जल सिंधु खलभलिगो।
खग खगराज महाराज सिवराज जू को अखिल-भुजंग-मुगलद्दल निगलिगो ॥८·५॥
कोकनद नैनन तें कज्जल कलित छूटे आँसुन की धार तें कलिंदी सरसाति है।
मोतिन की लरैं गरैं छूटि परै गंग छवि सेंदुर सुरंग सरसुती दरसाति है।

भूषण भनत महाराज सिवराज वीर रावरे सुजस ये उकति ठहराति है।
जहाँ जहाँ भागति हैं बैरि-बधू तेरे त्रास तहाँ तहाँ मग में त्रिबेनी होति जाति है।८·६।

रैयाराव चंपति को चढ़ो छत्रसाल सिह भूषण भनत गजराज जोम जमके।
भादौं को घटा सी उठि गरद गगन घिरै सेलैं समसेरैं फिरैं दामिनि-सी दमके।
खान उमरावन के आन राजा रावन के सुनि सुनि उर लागैं घन कैसे घमके।
वैयरु बगारन की अरि के अगारन की लाँघतीं पगारन नगारन के धमके।।८·७।।

भुज-भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगिनी-सी खेदि-खेदि खातीं दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति मीन पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के।
रैयाराव चंपति के छत्रसाल महाराज भूषन सकै करि बखान को बलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर तेरी बरछी ने वर छीने हैं खलन के।।८·८।।

निकसत म्यान तें मयूखें प्रलैभानु कैसी फारैं तमतोम-से गयंदन के जाल को।
लागति लपकि कंठ बैरिनि के नागिन-सी रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को।८·९।

डंका के दिये तें दल डंबर उडमंड्यो उमंड्यो उडमुंडल लौं खुर की गरद्द है।
जहाँ दारा साह बहादुर के चढ़त पैड ऐंड़ में मढ़त मारू राग वंबनद्द है।
भूषन भनत घने घुम्मत हरौलवारे किम्मत अमोल बहु हिम्मत दुरद्द है।
हद्द व छपद्द महि मद्द पर नद्द होत कद्द नमनद्द से जलद्द दल दद्द है।।८·१०।।

चाकचक चमू के अचाकचक चहूँ ओर चाक सी फिरति धाक चंपति के लाल की।
भूषन भनत पातसाही मारि जेर कीन्हीं काहू उमराव ना करेरी करवाल की।
सुनि सुनि रीति बिरुदैत के बड़प्पन की थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की।
जंगजीति लेवा तेऊ ह्वै के दामदेवा भूप सेवा लागे करन महेवा महिपाल की।८·११।

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हे भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।
आन राव राजा एक मन में न लाऊँ अब साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को।८·१२।

एक हाड़ा बूँदी धनी, मरद महेवावाल।
सालत औरंगजेब उर, ये दोनों छतसाल ॥८·१३॥
वे देखौ छत्तापता, ये देखौ छतसाल।
वे दिल्ली की ढाल, ये दिल्ली ढाहनवाल ॥८·१४॥



: ६ :

देव

सूनो कै परम पद ऊनो कै अनन्त मद,
नूनो कै नदीस नद इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की सम्पति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज-वीथी बिथुरै परी।
भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय के सँयोग देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि,
जसुदा के कोरे एक बार ही कुरै परी ॥९·१॥

ऐसो जौ हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरो तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चञ्चल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधाबर बिरुद के बारिधि मैं बोरतो ॥९·२॥

धार में धाय धँसीं निरधार ह्वै जाय फँसी उकसीं न उधेरी।
री अँगराय गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरीं न घिरी नहिं घेरी।
देव कछू अपनो बस ना रसलालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥९·३॥

कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, क्यों
हँसी तुम्हें अनोखी, नेकु सीत में ससन देहु।
अंबर हरैया हरि अंबर उज्यारो होत,
हेरिके हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु।

देव दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयव लसन देहु।
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अबहूँ बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु ॥९४॥
नगर निकेत रेत खेत सब सेत-सेत,
ससि के उदेत कछु देत न दिखाई है।
तारका मुकुत-माल झिलिमिलि झालरनि,
बिमल बितान नभ आभा अधिकाई है।
समुद प्रमोद ब्रज-बीथिन बिनोद देव,
चहूं कोद चाँदनी की चादरि बिछाई है।
राधा मधुमालतिहि माधव मधुप मिले,
पालिक पुलिन झीनी परिमल आई है ॥९५॥
फूलि उठो बृन्दावन, भूलि उठे खग, मृग,
सूलि उठे उर विरहागि बगराई है।
गुंजरैं करत अलि-पुंज कुंज कुंज धुनि,
मंजु पिक-पुंज नूत मंजरी सुहाई है।
बाल बनमाल फूल-माल बिकसंत विह-
संत मुखी ब्रज मैं वसंत ऋतु आई है।
नंद के नँदन ब्रजचन्द को वदन देखो,
सदन-सदन देव मदन-दुहाई है ॥९६॥
कोयल अलापी कुल नाचत कलापी, ताल
बोलत बिसाल बोल चातक सुनायो है।
दामिनीन बीच उपबीत गुन पीतपट,
मोतिन को हार बग-पाँति मनभायो है।
फूले मुख लोयन कमल कमलाकर,
मुकुट रबि जोति ताप बरषि सिरायो है।
मोहै धुनि सरग में बरषा पहर चौथे,
मेघ तनस्याम घनस्याम बनि आयो है ॥९७॥
आई बरसाने ते, बुलाई बृषभानु-सुता,
निरखि प्रभाव प्रभा भानु की अथै गई।

चक-चकवान को चुकाए चक-चोटन सों,
चकित चकोर चकचौंधी-सों चकै गई।
नंदजू के नंदजू के नैनन अनंदमयी,
नंदजू के मंदिरन चंदमयी छै गई।
कंजन कलिनमयी, कुंजन अलिनमयी,
गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई ॥९·८॥
लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल-से दुकूलन सुगंध विथुरो परै।
इंदु-सो बदन मंद हाँसी सुधा-विंदु,
अरविंदु ज्यौं मुदित मकरंदन मुरो परै।
ललित लिलार श्रम झलक अलक-भार,
मग में धरत पग जावक घरो परै।
देव मनि-नूपुर-पदुम-पद दू पर ह्वै,
भू पर अनूप रूप रंग निचुरो परै ॥९·९॥
बैठो कहा धरि मौन भटू, रँगभौन तुम्हें बिन लागत सूनो।
चातक लौं तुमहीं ररि 'देव' चकोर भयो चिनगी करि चूनो।
साँझ सुहाग को माँझ उदौ करि सौति—सरोजन को बन लूनो।
पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस से उठि कीजिए पूनो ॥९·१०॥
साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई की आस कि आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥९·११॥
डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन,
कंजकली नायिका लतानि सिर सारी दै।

मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥९.१२॥

फटिक सिलानि सों सुधारयो सुधामंदिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमँगै अमंद।
बाहेर तें भीतर लौं भीति न दिखैए देव,
दूध कैसो फेनु फैल्यो आँगन फरसबन्द।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होतिं,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी से अंबर में आभा सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चंद ॥९.१३॥

बरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन, भगौंहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हूँ जागैं, भौंहें
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिकमाल लाल डोरे सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए सँजोगिनि ए,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की अँखियाँ ॥९.१४॥

झहरि झहरि झीनी बूँदें हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आइ कह्यो स्याम मोसौं चलो झूलिबे को आप,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं।
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौं तौ न घन है न घनस्याम,
वेई छाइं बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन मैं ॥९.१५॥

●

: १० :

घनआनंद

परकारज देह कों धारे फिरो परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवन-दायक हौ कछु मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ ॥१०·१॥

एरे वीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, वारी,
तो सो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े कों समान,
घनआनँद निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि, आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायनि की हाहा नैकु आनि दै ॥१०·२॥

आनाकानी आरसी निहारिबो करौगे कौ लौं,
कहा मो चकित दसा त्यौं न दीठि डोलिहै।
मौनहू सों देखिहौं, कितेक पन पालिहौ जू,
कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।
जान घनआनँद! यौं मोहिं तुम्हैं पैज परी,
जानियैगो टेक टरें कौन धौं मलोलिहै।
रूई दिए रहौगे कहाँ लौ बहरायबे की,
कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै ॥१०·३॥

मूरति सिंगार की उजारो छबि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद-पावड़े पुनीतकारी,
पाय चूमि चूमि कै कपोलनि सों माजिहौं।

जान प्यारे प्रान अंग-अंग रुचि-रंगन मैं,
बोरि सब अंगनि अनंग-दुख भाँजिहौं।
कब घनआनँद ढरौंही बानि देखें,
सुधा हेत मन-घट दरकनि सुठि राँजिहौं ॥१०४॥

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥१०५॥

गुरनि बतायौ राधामोहन हू गायो सदा,
सुखद सुहायौ वृन्दावन गाढ़े गहि रे।
अद्भुत अभूत महिमंडल परे तें परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे।
आनँद को घन छायो रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेस सो पपीहापन बहि रे।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे ॥१०६॥

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यौं फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मँझार, दई गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनँद आपने चातिक कौं, गुन बाँधि लै, मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यों बिस घोरियै जू ॥१९७॥

चंद चकोर की चाह करै, घन आनँद स्वाति पपोहा कौं पावै।
ज्यौं त्रसरेनि के ऐन बसै रबि, मीन पै दीन ह्वै सागर आवै।
मोसों तुम्हें सुनो जान कृपानिधि, नेह निवाहिवो यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै ॥१०८॥

हीन भएँ जल मीन अवीन, कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर-सनेही कौं लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़, मीत के पानि परे कौं प्रमानै।
या मन की जु दसा, घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै ॥१०९॥

घनआनँद जीवनमूल सुजान की कौंधन हूं न कहूं दरसैं।
सु न जानियै धौं कित छाय रहे द्दग-चातिग-प्रान तपे तरसैं।
बिन पावस तौ, इन ध्यावस हो न, सु क्यौं करिये अब सो परसैं।
बदरा बरसै रितु मैं घिरि कै नित ही अँखिया उघरी बरसैं ॥१०·१०॥

कंत रमैं उर अंतर मैं सु लहै नहीं क्यौं सुख रासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आँगुरी, तो जु बियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर!
जानैं वेई दिन राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर ॥१०·११॥

इत बाँट परी सुधि, रावरे भूलनि कैसें उराहनो दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू।
घनआनँद जीवन-प्रान सुजान, तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्हैं चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजियै जू ॥१०·१२॥

बधिकौ सुधि लेत, सुन्यौ, हति कै गति रावरी क्यौं हूं न बूझि परै।
मति आवरी बावरी ह्वै जकि जाय, उपाय कहूं कि न सूझि परै।
घनआनँद यों अपनाय तजी इन सोचनि ही मन मूझि परै।
दिन रैन सुजान-बियोग के बान सहै जिय पापी न जूझि परै ॥१०·१३॥
बिन बूझ असूझ बिरंचि रचे सपने हूं न लागनि गैल गई।
जिन बावरी रोग-बियोग-भरी रचि ये हम कौं तम जोग दई।
घनआनँद मीत सुजान लखें अभिलाषनि लाखनि भाँति रई।
मुख माधुरी पान कौं आतुर पै अखियाँ दुखियाँ कित भोरी भई ॥१०·१४॥

बहुत दिनान के अवधि-आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं. उठि जान को।
कहि कहि आवन सँदेसो मनभावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब न घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को ॥१०·१५॥

रस-कण

: ११ :

मतिराम

कुंदन को रँगु फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन मैं अलसानि चितौन मैं मंजु विलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरैं सी निकाई ॥११·१॥

खेलन चोर-मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं।
आली कहा कहौं एक भई मतिराम नई यह बात तहाँईं।
एकहि भौन दुरे इक संग ही अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो घन स्वेद बढ्यो तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आईं ॥११·२॥

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तनपानिप पीजै।
नैक निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे के जीजै।
होत रहै मन यों मतिराम कहूं वन जाइ वड़ो तप कीजै।
ह्वै वनमाल -हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै ॥११·३॥

वैठी तिया गुरु लोगन मैं रति तें अति सुंदर रूप विसेखी।
आयो तहाँ मतिराम सुजान मनोभव सों वढ़ि कांति उरेखो।
लोचन रूप पियो ही चहैं अरु लाजनि जात नहीं छबि पेखी।
नैन नवाय रही हियमाल में लाल की मूरति लाल में देखी ॥११·४॥

कानन लौं लागे मुसकान प्रेम पागे लोने,
लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग तें।
भारु धरि भुजनि डुलावति चलति मंद,
औरै ओप उलहत उरज उतंग तें।
मतिराम जोबन-पवन की झकोर आय,
बढ़िकै सरस रस तरल तरंग तें।
पानिप अमल की झलक झलकन लागी,
काई-सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग तें ॥११·५॥

❀

: १२ :

सेनापति

लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं बिसाल, संग,
स्याम रंग मेटि मानौं मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपवन-बन धाए हैं।
सेनापति माधव महीना मैं पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं।
आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौं,
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं ॥१२·१॥

बृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छाँह कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं।
सेनापति नैक दुपहरी के ढरत होत,
धमका बिषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥१२·२॥

दामिनी दमक सोई मंद बिहसनि, बग-
माल कै बिसाल सोई मोतिन कौ हारो है।
बरन बरन घन रंगित बसन तन,
गरज गरूर सोई बाजत नगारो है।
सेनापति सावन कौं बरसा नवल बधू,
मानौं है बरति साजि सकल सिंगारो है।
त्रिबिध बरन पर्‌यौ इंद्र कौ धनुष, लाल
पन्ना सौं जटित मानौं हेम खगवारो है ॥१२·३॥

बिविध बरन सुरचाप के न देखियत,
मानौं मनि भूषन उतारिबे के भेस हैं।
उन्नत पयोधर बरसि रस गिरि रहे,
नीके न लगत फीके सोभा के न लेस हैं।
सेनापति आए तैं सरद रितु फूलि रहे,
आस-पास कास खेत खेत चहूँ देस हैं।
जीवन हरन कुंभजोनि उदए तैं भई,
बरसा बिरध ब्राके सेत मानौं केस हैं ॥१२४॥

सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यौ दल,
निवल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन में जाइ कै।
घूम नैन वहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सों लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानौं भीत जानि, महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै ॥१२५॥

सिसिर तुषार के बुखार ते उखारत है,
पूस वीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै।
द्यौस को छुटाई की वड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति पाई कछु सोचि कै सुमिरि कै।
सीत तैं सहस कर सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥१२६॥



: १३ :

बोधा

अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई वेह ते द्वार सकीन तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो हैं।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है ॥१३·१॥

वह प्रीति की रीति को जानत थी तवही तो वच्यौ गिरि ढाहन तैं।
गजराज चिकारि कै प्रान तज्यो न जरचौ सँग होलिकादाहन तैं।
कवि बोधा कछू न अनोखौ यहै का वने नहीं प्रीति निवाहनतैं।
प्रहलाद की ऐसी प्रतोत करैं तव क्यों न कढ़ैं प्रभु पाहन तैं ॥१३·२॥

कहिवे को ब्यथा सुनिबे को हँसी को दया सुनि कै उर आनतु है।
अरु पोर घटै तजि घोर सखो दुख को नहीं कापै वखानतु है।
कवि वोधा कहे मे सवाद कहा को हमारी कहो पुनि मानतु है।
हमें पूरी लगी कै अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है ॥१३·३॥

कूर मिले मगरूर मिले रनसूर मिले वरे सूर प्रभा को।
नी मिले औ गुमानी मिले सनमानी मिले छविदार पताको।
राजा मिले अरु रंक मिले कवि वोधा मिले निरसंक महा को।
और अनेक मिले तो कहा नर सो न मिल्यो मन चाहत जाको ॥१३·४॥

छाड़ि सखीन को सील सबै कुलकानि निगोड़ी वहाइबे ही है।
ह्वै कै लटू लपटाइ हिये हरि हाथ ते वंसी छुटाइवे ही है।
वोधा जरेलुन के उपहार अँगेजु कै कुंजनि जाइबे ही है।
लाज सों काज कहा वनिहै वृजराज सों काज वनाइवे ही है ॥१३·५॥



: १४ :

आलम

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी वैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी वहु वात सु ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं।
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं ॥१४·१॥

कैधौं मोर सोर तजि गये री आनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न वोलत हैं ए दई !
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं वकपाँति उत अन्तगत ह्वै गई।
'आलम' कहै हो आली अजहूँ न आये प्यारे,
कैधौं उत रीति विपरीत विधि ने ठई।
मदन महीप की दोहाई फिरिवे तें रही,
जूझि गये मेघ कैधौं दामिनी सती भई ॥१४·२॥

सौरभ सकेलि मेलि केलि ही को वेलि कीन्हीं,
सोभा की सहेली सु अकेली करतार की।
जित ढरकैहो कान्ह तितही ढरकि जाय,
साँचे ही सुढारी सब अंगनि सुढार की।
तपनि हरनि कबि आलम परस सीरी,
अति ही रसिक रीति जानै रस-चार की।
ससि हूँ को रसु सानि सोने को सरूप लै के,
अति ही सरस सों सँवारी घनसार की ॥१४·३॥

तातो होति छाती छिनु जूड़ियौ ह्वै जाति कछु,
तातो सीरी राती पीरी बूझि न परति है।
'आलम' कहै हो कान्ह कौन बिथा जानों वाकी,
मौन भई काहू की न कानि हू करति है।
आगि सी झँवाति है जू ओरे सी बिलाति है जू,
छिन हू न देखे सुधि बुधि विसरति है।
अँसुवनि भीजै औ पसीजै त्यौं त्यौं छीजै वाल,
सोने ऐसी लोनी देह लोन ज्यों गरति है ॥१४४॥

कंचन में आँच गई चूनो चिनगारी भई,
भूषन भये हैं सव दूषन उतारि लै।
वालम बिदेस ऐसो वैस मैन आगि लागै,
जागि जागि उठै हियो विरह वयारि लै।
अब कत पर घर माँगन है जाति आगि,
आँगन में चाँदु चिनगारी चारि झारि लै।
सांझ भई भौन सँझवाती क्यों न देति है री,
छाती सों छुवाय दियावाती आनि वारि लै ॥१४५॥



: १५ :

ठाकुर

दस बार बीस वार बरजि दई है याहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन वरन देव।
कैसो कहा कीजै कछु आपनो करौ न होइ;
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव।
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखो,
प्रेम निरसंक रस रंग विहरन देव।
विधि के वनाये जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव ॥१५·१॥

अपने अपने निज गेहन में, चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे समयो लखि मैं वलि जावँ पै री।
कह ठाकुर दोऊन की रुचि सों, रँग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री।
सखी कारी घटा वरसै वरसाने पै गोरी घटा नँदगाँव पै री ॥१५·२॥

यह चारहूं ओर उदौ मुखचन्द की चाँदनी चारु निहारि लै री।
वलि जो पै अधीन भयो पिय प्यारो तो एतो विचार विचारि लै री।
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गोपाल तो तैं बिगरी को सम्हारि लै री।
अब रैहै न रैहै यही समयो, बहती नदी पाँव पखारि लै री ॥१५·३॥

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बार हूं वार बिलोकि घरी घरी, सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीत है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए, इतनो तो विसेष कै जानति ह्वै है ॥१५·४॥

रूप अनूप दई दयो तोहि तौ मान किये न सयान कहावै।
और सुनो यह रूप जवाहिर भाग बड़े विरलै कोऊ पावै।
ठाकुर सूम के जात न कोऊ उदार सुने सबही उठि धावै।
दीजिए ताहि दिखाय दया करि जो चलि दूर तें देखिबे आवै ॥१५·५॥



: १६ :

द्विजदेव

आज सुभाइन ही गई बाग विलोकि प्रसून की पाँति रही पगि ।
ताहि समै तहँ आए गुपाल तिन्हैं लखि औरो गयो हियरो ठगि ।
पै द्विजदेव न जानि परचो धौं कहा तिहि काल परे अँसुआ जगि ।
तू जो कहै सखि लोनो सरूप सो मो अँखियान को लोनी गई लगि ॥१६·१॥

घहरि घहरि घन सघन चहूंघा घेरि,
छहरि छहरि विष बूंद बरसावै ना ।
द्विजदेव की सौं अब चूकि मति दाँव अरे,
पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना ।
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ अरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना ।
हौं तौ बिनु प्रान प्रान चाहति तज्योई अब,
कत नभचंद तू अकास चढ़ि धावै ना ॥१६·२॥

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे कहूं,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जाइहैं ।
द्विजदेव की सौं वह कूजनि बिसारि कूर,
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछिताइहैं ।
आवत बसंत के न ऐहैं जो पै स्याम तो पै,
बावरी बलाइ सों हमारे हूं उपाइ है ।
पीहैं पहिले ही तें हलाहल मँगाइ या,
कलानिधि को एकौ कला चलन न पाइहै ॥१६·३॥

डारे कहूं मथनि बिसारे कहूं घी को घड़ा,
बिकर बगारे कहूं माखन मठा मही ।
भ्रमि भ्रमि आवति चहूंघा तें सु याही मग,
प्रेम पय पूर के प्रवाहन मनौं बही ।

झरसि गई धौं कहूँ काहू की वियोग झार,
वार-वार विकल विसूरति यही यही।
ए हो ब्रजराज एक ग्वालिन कहूँ की आज,
भोर ही तें द्वार पै पुकारती दही दही ॥१६४॥
बोलि हारे कोकिल बुलाइ हारे केकीगन,
सिखै हारीं सखी करि जुगति नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज बैरिन कुसंग इन,
अंगन ही आपने अनीति इतनी ठई।
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समै में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समै में चल पलन दगा दई ॥१६५॥



पद्माकर

फूलन को खंभा, बनी पटरी सुफूलन की,
फूलन के फँदवा फँदे हैं लाल डोरे मैं।
कहै पदमाकर वितान तने फूलन के,
फूलन की झालर हूँ झूलती झकोरे में।
फूल भरी फूलन सुफूल फुलवारी तहाँ,
फूलन के फरस विछे हैं कुंज कोरे मैं।
फूलजरी, फूलभरी, फूलझरी फूलन में,
फूल ही सी फूल रही फूल के हिंडोरे मैं ॥१७·१॥

कूलन मैं केलि मैं कछारन मैं कुंजन मैं,
क्यारिन मैं कलिन कलीन किलकन्त है।
कहै पदमाकर पराग हू मैं पान हूँ मैं,
पानन मैं पीक मैं पलासन पगन्त है।
द्वार मैं दिसान मैं दुनी मैं देस देसन मैं,
देखो दीप दीपन मैं दीपत दिगन्त है।
बीथिन मैं ब्रज मैं नवेलिन मैं वेलिन मैं,
बनन मैं वागन मैं वगरो बसन्त है ॥१६·२॥

फागु की भीर अभीरन मैं गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाय अबीर को झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तैं सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय 'लला फिरि आइयो खेलन होरी' ॥१७·३॥

या अनुराग की फागु लखौ जहँ रागती राग किसोर किसोरी।
त्यौं पदमाकर घालि चली फिरि लाल ही लाल गुलाव की झोरी।
जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग मैं वोरी।
गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो साँवरे के रँग भोजिगो गोरी ॥१७·५॥

जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ै वहै उमहै वह वेनी।
त्यों पदमाकर हीर के हारन गंग तरंगन सी सुख देनी।
पायन के रँग सो रँगि जात सी भाँति ही भाँति सरस्वति सेनी।
पैरै जहाँई जहाँ वह वाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबेनी ॥१७·५॥



हिन्दी प्रचारक संस्थान

पो० बॉक्स नं० १०६

पीशाचमोचन, वाराणसी २२१००१

Kamala Mudran Varanasi 221001